साहित्यशास्त्र परिचय

डॉ० सुधाकर कलवडे

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
संगमनेर महाविद्यालय
संगमनेर, अहमदनगर



Sahitya Shastra Parichaya Dr Sudhakar Kalawade
Rs 20 00

प्रकाशक पुस्तक संस्थान, १०९/५० ए, नेहरू नगर
कानपुर-२०८०१२
पुस्तक साहित्यशास्त्र परिचय
लेखक डॉ० सुधाकर कलवडे
मुद्रक आराधना प्रेस, ब्रह्मनगर, कानपुर
मूल्य बीस रुपये

अनुक्रमणिका

भूमिका

साहित्य शास्त्र और आलोचना की शास्त्रीय मीमांसा करने वाले अनेक प्रामाणिक और उच्चकोटि के ग्रन्थ जो विभिन्न विद्वानों के द्वारा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लिखे गये हैं—उपलब्ध हैं। फिर महासागर में यह और एक बूँद क्यों मिलाई जा रही है?

इस संक्षिप्त पुस्तक का उद्देश्य है—साधारण पाठकों बी० ए० एम० ए० के छात्रों एवं रसिकों को साहित्य के तत्वों से परिचित कराना। इसमें भारतीय और पाश्चात्य साहित्य के रूपों, सिद्धान्तों तत्वों और आलोचकों पर विवेचना मिलेगी जिसके लिए रसिकों को अनेक विभिन्न ग्रन्थों को देखना पड़ता है। उदाहरणार्थ। रस अलंकार ध्वनि महाकाव्य आदि के लिए भारतीय साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ देखने पड़ते हैं तो ट्रेजेडी क्लासिसिज्म सुररियलिज्म, रोमांटिसिज्म के लिए पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों का विवरण करने वाले ग्रन्थों को देखना पड़ता है। इस पुस्तक में तत्व-तत्व ग्रहण करके सार रूप में बहुत कुछ बताने का यत्न किया है। अर्थात भारतीय और पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अधुनातन विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते समय अनावश्यक विस्तार चर्चा मीमांसा एवं विवेचन को हटाकर और संक्षिप्तता को प्राधान्य देकर निरूपण के प्रसंग में कोई महत्वपूर्ण बात छूट न पाए इसका भी बराबर ध्यान रखा गया है। यह गागर में सागर भरने का प्रयास है।

इसमें विविध उच्चकोटि के ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री को एक स्थान पर संचित करने का प्रयत्न है। इसीलिए विद्वज्जनों की अनेक कृतियों की यथास्थान सहायता ली है लेखक उनका ऋणी है। मेरे मित्र श्री महेश त्रिपाठी जी ने इस पुस्तक को आकर्षक एवं सुन्दर रूप में प्रकाशित किया है उन्हें धन्यवाद। आशा है—साहित्य सम्बन्धी सामग्री के इस अनोखे मधुकुंभ का छात्र एवं रसिक जगत् स्वागत करेगा।

—सुधाकर कलावडे

प्रकरण १

साहित्य और वाङ्मय

साहित्य शब्द विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है। साहित्यशास्त्र में इसका एक विशेष अर्थ है। अंग्रेजी म Literature शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है, तद्वत हिन्दी म भी साहित्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। बोलचाल की भाषा म किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की संज्ञा देते हैं। यहाँ तक कि औषधियो के बक्स अथवा बोतल के साथ आने वाले छपे हुए परचे भी साहित्य कहलाने का अधिकार जताते हैं। जन सामान्य म इस प्रकार साहित्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है तो दूसरी ओर कला का जिसमे समावेश है, उन पुस्तको को भी साहित्य कहते हैं।

प्रकाशित होने वाली अधिकतर पुस्तकें ज्ञान वद्धि के लिए लिखी जाती हैं। दर्शन भूगोल ज्योतिष इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषय पर लिखी गयी पुस्तको का उद्देश्य जानकारी देना और बढाना होता है। संक्षेप में अंग्रेजी में जिस प्रकार लिटरेचर शब्द का प्रयोग अक्षरो म (लैटर) आयोजित प्रत्येक सामग्री के लिये किया जाता है, उसी प्रकार हिन्दी म भी साहित्य शब्द व्यापक अर्थ को ध्वनित करता है।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति है—सहितस्य भाव साहित्य अर्थात् साहित्य म शब्द और अर्थ का अभिन्न साहचर्य रहता है। साहित्य शब्द अपने सीमित और विशिष्ट अर्थ म उस ललितकला का द्योतक है जिसका माध्यम शब्द है। जब साहित्य ललितकला की सीमा में प्रवेश करता है, तब उसम नवीन विशेषता और शक्ति का आविर्भाव होता है। साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दु ख और संकट को क्षण भर के लिये भूल सकता है। वह आपदाओ से भरे हुए वास्तविक संसार को छोडकर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक मे भ्रमण करा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे बेकारी के क्षण काटने के लिए जो कुछ भी लिखा जाय वह साहित्य होगा। साहित्य और सुरुचि का अभेद्य सम्बन्ध है। साहित्य को हमारी उस रुचि को व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए। साहित्य शब्द के संकीर्ण अर्थ के अंतर्गत हम मनुष्य की केवल बौद्धिक दृष्टि तथा ज्ञान प्राप्ति की इच्छा को पूर्ण करने वाली पुस्तको को ग्रहण नही

कर सकते । हम केवल उन्हीं को साहित्य समझते हैं तथा मानते हैं जो कि मनुष्य जीवन को सरस सुखी तथा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है ।

हडसन ने अपनी पुस्तक Study of Literature में पृ० १० पर साहित्य के सम्बन्ध में लिखा है —Literature is composed of those books and those books only which in the first place by reason of their subject matter and their mode of treating it are of general human interest and in which in the second place the element of form and the pleasure which form gives are to be regarded as essential.

हडसन ने आत्माभिव्यक्ति की कामना, मनुष्य और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव, यथार्थ जगत के प्रति हमारा आकर्षण और कल्पना जगत के निर्माण की प्रवृत्ति और रूप विधान की कामना—इन चार प्रवृत्तियों को साहित्य को जन्म देने वाली मूलभूत प्रवृत्तियाँ मानी हैं ।

साहित्य शब्द के पर्यायी रूप में वाङ्मय शब्द का प्रयोग किया जाता है । मराठी में साहित्य की अपेक्षा वाङ्मय शब्द ही बहुत प्रचलित है । वाङ्मय का वस्तुतः अर्थ है वाणीमय । वाणी के द्वारा जिसका प्रचलन किया गया हो ऐसा साहित्य । पुरातन युग में लेखन सामग्री की अनुपलब्धि में वाक् द्वारा ही समाज में साहित्य का सम्प्रेषण होता था । अतएव संस्कृत में साहित्य के लिए विशेषतः वाङ्मय शब्द का प्रयोग किया है । प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने तथा आचार्य भोज देव ने वाङ्मय के छः भेद किए हैं तो आचार्य राजशेखर ने शास्त्र और काव्य ऐसे दो भेद किये हैं । आजकल वाङ्मय की अपेक्षा साहित्य शब्द ही हिन्दी में अधिक प्रचलित है । डा० भगीरथ मिश्रजी के अनुसार वाङ्मय वाणी के द्वारा प्रकाशित समस्त अनुभव और ज्ञान है और साहित्य मनुष्य के अनुभव और ज्ञान का वह रूप है जो लिपिबद्ध होकर हमारे सामने आता है या सुरक्षित रहता है ।

काव्य और साहित्य

काव्य का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का है । साहित्य दर्पणकार ने काव्य को रसात्मक वाक्य बताया है । काव्य हृदय में अलौकिक आनन्द अथवा चमत्कार की सृष्टि करता है । बहुत से लोग भ्रमवश कविता को ही काव्य मानते हैं । वस्तुतः कविता काव्य का एक अंग मात्र है । कविता के अतिरिक्त अनेक प्रकार की रचनायें काव्य अथवा साहित्य के अन्तर्गत आती हैं । किसी पुस्तक को हम साहित्य अथवा काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं जब जो कुछ

उसमें लिखा गया है वह कला की उद्देश्य पूर्ति करता है। साहित्य के अंतर्गत कविता के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास आदि सभी आते हैं। संस्कृत में प्रायः काव्य शब्द से गद्य पद्य और चंपू का बोध होता है। एक दृष्टि से यह काव्य का पूर्ण और व्यापक रूप कहा जा सकता है। श्यामसुन्दरदास जी के अनुसार 'भिन्न भिन्न काव्य कृतियों का समष्टि संग्रह ही साहित्य है। इसी विचार से संग्रह रूप में जो साहित्य है, मूलरूप में वही काव्य है।' साहित्य और काव्य में केवल व्यावहारिक भेद मानना चाहिए। प्राचीन साहित्य के समान नवीन साहित्य में भी काव्य का स्वरूप संकुचित करने की प्रवृत्तियां दीख पड़ती हैं। इतिहास और जीवन चरित को काव्य की सीमा से बाहर रखने की चेष्टा कतिपय साहित्य शास्त्रियों ने की है। यहां काव्य शब्द का प्रयोग साहित्य के अर्थ में ही किया है। साहित्य शब्द काव्य शब्द की अपेक्षा व्यापक माना जाता है।

कविता

कविता का पद्यात्मक रचना होती है। काव्य से जहां रचना के भावपक्ष और अन्तस सौंदर्य का बोध होता है वहां कविता शब्द के प्रयोग से प्रायः उसके कला पक्ष और रूपात्मक सौन्दर्य को प्रधानता मिलती है। कविता शब्द पद्य से उत्पन्न स्थिति का द्योतक है। पद्य और कविता समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि व्यापक रूप से छंदोबद्ध रचना मात्र के लिये कविता शब्द का प्रयोग होता है लेकिन अर्थ में आधुनिक युग में विशेषरूप से कविता शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत आकार में छोटे ऐसे पद्य विशेष के लिए किया जाता है। काव्य शब्द किसी रचना विशेष के लिए प्रयुक्त होना तब उससे अपेक्षाकृत बड़ी प्रायः प्रबन्धात्मक रचना का अर्थ सूचित होता है। कविता हमें अनिवार्यरूप से पद्यात्मक लय और ताल युक्त शब्दावलि की सूचना देती है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी काव्य की आंतरिक विशेषता भी उसमें विद्यमान नहीं होती।' अंग्रेजी में पोइट्री और पोएम शब्द प्रयोग द्वारा काव्य और कविता का अन्तर स्पष्ट किया है। हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के पूर्व तक कविता शब्द का प्रयोग कविताई या कवि कर्म के अर्थ में होता था। तुलसीदास जी ने इसका प्रयोग किया है। आधुनिक काल में किसी रचना विशेष के लिए भी संकीर्ण अर्थ में कविता शब्द का प्रयोग होने लगा है। आधुनिक कविता का विकास समाचार पत्रों तथा मासिक पत्रिकाओं द्वारा हुआ है। कविता के अंतर्गत आजकल स्वच्छन्द कही जाने वाली कविता भी ले सकते हैं। कविता के अंतर्गत छन्द आवश्यक है। गति ही छन्द का प्रमाण है और गति कविता के लिए आवश्यक है।

पद्य

"छन्द बद्ध रचना पद्य कहलाती है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से पद्युक्त अर्थात् गणमात्रा युक्त रचना को पद्य कहते हैं। इस प्रकार पद्य शब्द बाह्य रूप का बोध कराता है, उसकी आन्तरिक प्रकृति का कोई संकेत नहीं देता। पद्य शब्द का प्रयोग कविता के लिए भी होता है ठीक उसी अर्थ में काव्य का। इसका कारण सामान्यतया कविता और पद्य को अभिन्न मानना ही है। पद्य में छन्द के नियमों का पालन होता है उसके अन्तर्गत एक नियमित गति या लय का निर्वाह होता है। पद्य नपे तुले पगों का नर्तन है और गद्य सामान्य गति। गद्य में अर्थ की स्वाभाविकता के लिए व्याकरण के दृढ़ नियमों का बन्धन मानने की आवश्यकता नहीं रहती। पद्य में अर्थ से भी अधिक महत्त्व छन्द के नियमों का रहा है। पद्य में संगीत कला की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कल्पना, रसमयता और भावना की गति प्रधानतया प्राप्त होती है। संसार के साहित्य में आदि काल से पद्य की ही प्रधानता थी। मैकाले के अनुसार मानवी सभ्यता के बढ़ते हुए चरण के साथ पद्य का ह्रास होगा किन्तु यह मत निर्मूल हो चुका है। कुछ बुद्धिवादी सामाजिक दृष्टि से गद्य को अधिक महत्ता प्रदान करते हैं कारण इनके मत में पुष्ट अनलङ्कृत विचार जो गद्य में व्यक्त किए जाते हैं अधिक सत्य होते हैं। यह धारणा असाहित्यिक और उपहासास्पद है।

साहित्य और विज्ञान

साहित्य और विज्ञान मानव संस्कृति विकास के भिन्न प्रतीक हैं और दोनों में अन्तर है। कोलरिज ने इसे संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया है In Science reason is the guide in poetry taste अर्थात् विज्ञान का पथ प्रदर्शक तथ्य निरूपण है और काव्य का रस या आस्वादन है। साहित्य का सम्बन्ध अन्तर्जगत से—भावना से अधिक है विज्ञान का बाह्यजगत अर्थात भौतिक जगत से होता है। साहित्य हृदय से सम्बन्धित है तो विज्ञान मानव मस्तिष्क से। परन्तु यह धारणा नहीं होनी चाहिए कि बुद्धितत्त्व साहित्य में नहीं होता केवल भावना और कल्पना ही होती है और विज्ञान में भावना का तनिक भी अंश नहीं होता है। यह सत्य है कि विज्ञान में कल्पना का स्थान नहीं होता। वैज्ञानिक वस्तुओं के रूप आकार रचना गुण स्वभाव और सम्बन्ध पर विचार करता है उन्हें परस्पर मिलाता है उनका वर्गीकरण करता तथा वस्तु के वर्तमान रूप धारण करने वाले कारणों या क्रियाओं का पता लगाता है। इस प्रकार सिद्धांत निरूपण और क्रिया कलापों में बौद्धिक अन्वेषण प्रधानता होती है। नए आविष्कार के साथ विज्ञान को प्राचीन सिद्धांतों का त्याग करना पड़ता

है। विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों की क्रमबद्ध, बुद्धिसगत और सहतुक व्याख्या करना है जिसके अ तगत उसके गुण, उद्भव और इतिहास की "याख्या रहती है। वनानिक का लक्ष्य कुछ सिद्धातो पर पहुँचना होता है और उसका काय वही समाप्त हो जाता है। साहित्य चिर नवीन और चिरतर रहता है। जातियो का इतिहास साहित्य म सुरक्षित रहता है। राष्ट्रो के जीवन की उन्नति और अवनति, आशाएँ और आकाक्षाए साहित्य मे चित्रित मिलती हैं। समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दपण है। भिन्न भिन्न जातियाँ उन्मूल हुइ और नष्ट हुईं, आज उनकी कृतियो का पता नही है परन्तु साहित्य म अब भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है। साहित्य म नाश किसी का नहीं होता, वह सबके सहित सब दिन सतत जाग्रत रूप मे विद्यमान रहता है। साहित्य की यह सावभौमिकता कभी भुलाइ नही जा सकती। मनुष्य समाज की यह अक्षय निधि निरय प्रति हमारे व्यवहार के लिए खुली हुई है। साहित्य के मूल म तन्मयता की भावना रहती है। साहित्य जीवन की अभि यक्ति है और विज्ञान जीवन का विश्लेषण। J S Mill न इस बात को इस प्रकार लिखा है— The Study of Science teaches young men to think while study of the classic. teaches them to express thought

वनानिक पदार्थों का विश्लेषण यथातथ्य रूप म करता है किन्तु साहित्यिक निर्जीव पदार्थों म भी चेतनता स्थापित कर अपनी भावनाओ क अनुरूप उसकी अभिव्यक्ति कर दता है। इस प्रकार साहित्य मे समस्त जगत् का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। साहित्य म लखक क व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, विनान म "यक्तित्व स कोइ सम्बन्ध नहा होता। साहित्य आत्माभि"यक्ति प्रधान है और विनान वस्तु विश्लेषण प्रधान है। प्रोफसर कर (Ker) के अनुसार काव्य और विनान का मुख्य लक्ष्य वस्तुओ का स्पष्टीकरण है। ड्यूरेल ने विनान को बौद्धिक काय और काय को भावात्मक विनान कहा है। (Science is the poetry of intelligence and poetry is the science of the heart s affections) साहित्य और विनान दोना के संयुक्त प्रयत्न से मानव सभ्यता पूण तथा सपन्न हो सकती है। विनान का उद्देश्य वाह्य प्रकृति तथा समाज पर विजय और साहित्य का आन्तरिक सतुलन, अनुशासन तथा उत्कष होता है। मकॉले न कहा था कि विनान की प्रगति के साथ काव्य का उत्तरोत्तर ह्रास होगा। अर्थात् यह कथन निमू ल सिद्ध हुआ है। यद्यपि आधुनिक काल म विज्ञान स साहित्य प्रभावित है तथापि दोनो के समन्वय स मानवी संस्कृति का उत्कष होगा।

साहित्य और दर्शन

'भारत मे शास्त्रो के अनुसार प्रत्येक वस्तु को आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व का सघात माना गया है । जगत और जीवन का इतिहास आत्म और अनात्म भाव स भरा है । आत्मा की तीन वत्तिया हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया । आत्म और अनात्म के मिश्रण स जीव की रचना हुई है । तुलसीदास जी ने इसे जड चेतन की ग्रन्थि कहा है । जीव के अगणित रूप है । एक परात्मा के अगणित रूप एकोऽहंबहुस्याम श्रुति वाक्य से सिद्ध होता है । साख्यदर्शन मे पुरुष और प्रकृति के अभिधान से इन्ही दोनो का वणन किया गया है । किसी जीव म आत्मभाव प्रबल है किसी म अनात्मभाव प्रबल है । आत्मा का गुण आनन्द है । आनन्द का विस्तार प्रसार उन्नयन आत्मिक क्रियाएँ हैं । इसी के विरोधी गुण तथा क्रियाएँ अनात्म की मानी गयी हैं ।

ज्ञान द और विषाद आकषण विकषण अनुराग विराग य क्रमश आत्मा और अनात्मा के विषय है और ये साहित्य के भी विषय हैं । साहित्य आत्म और अनात्म सहित रहता है । साहित्य जीवन और जगत की भावात्मक प्रतिलिपि है । किसी राष्ट या देश के साहित्य मे आत्मभाव की प्रधानता रहती किसी मे अनात्मभाव की । जीवन म जो प्रमुख इच्छाए और कामनाए हैं साहित्य म वे स्थायी भाव हैं । जीवन म जिस प्रकार प्रत्येक जीव अपनी इच्छाओ की पूर्ति द्वारा अपने आनन्द का विस्तार करना चाहता है उसी प्रकार साहित्य का भी प्रत्येक पाठक अपने अनुरूप रस को प्राप्त करना चाहता है । साहित्य सष्टि चक्र तुल्य नानात्व सहित है । जिसम त्रिगुणात्मक ससार और मानव तथा उससे सम्बन्धित बातें वर्णित हैं वह अनात्मभाव साहित्य है । और जिसम त्रिगुणातीत भावो की अभिव्यक्ति है वह आत्मभाव साहित्य है । अनात्मभाव प्रधान साहित्य लौकिक और आत्मभाव प्रधान साहित्य अलौकिक है ।

साहित्य और धर्म

धम और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्राचीन काल म धम भारत तथा यूरोप म भी सयनियामक रहा है । साहित्य को भी धम सत्ता का महत्व मान्य करना पडता था । धम के पौराणिक पक्ष म साहित्य की धारा बहती हुई स्पष्टत लक्षित होती है । विश्व के इतिहास स यह स्पष्ट हो जाता है कि धम और साहित्य अधिकतर विद्वानो की सपत्ति थी । धम और साहित्य स विश्व कल्याण हो सकता है । साहित्य द्वारा भी धम प्रचार किया गया है । धम परमात्मा प्राप्ति के साधनो और मार्गों का इतिहास है । इसम प्रेम माग महत्त्वपूर्ण है । साहित्य म प्रेम माग का भक्तिमाग सुन्दर चित्रण आता है । रहस्यवाद जो धम और दशन स सम्बन्धित है, साहित्य का भी एक प्रमुख पक्ष है । साहित्य

का विषय जीवन और जगत है, और धर्म से उसमें सौंदर्य आता है। धर्म हमारा हृदय उदार पवित्र, विशाल, सहानुभूति पूर्ण, स्नेहयुक्त बना देता है। विचारों और भावों को धर्म उन्नत बनाने में हाथ बँटाता है। और भावों की उदारता पर ही साहित्य का सौन्दर्य निर्भर रहता है। साहित्य श्रेष्ठ बनाने में धर्म सहायता पहुँचाता है। धर्म का एक पक्ष विश्वास है। प्रकृति साहचर्य के प्रभाव के फलस्वरूप मानव के हृदय में प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ विश्वास उत्पन्न हो जाते हैं। अपनी कोमल और भावमयी कल्पना के सहारे मानव प्रकृति के विविध रूपों के अन्तराल में किसी दिव्य मूर्ति के दर्शन करने लगता है। साहित्य में इन्हीं विश्वासों की प्रतिष्ठा रहती है और इन्हीं कल्पनामूलक मूर्तियों की भावात्मक अभिव्यक्ति पाई जाती है।' परतन्त्र अवस्था में देश का सर्वतोमुखी पतन होता है। धर्म और साहित्य का पराधीनावस्था में पतन होता है। विज्ञान के आविष्कारों ने धर्म एवं साहित्य दोनों पर प्रारम्भिक अवस्था में कुठाराघात किए हैं। डारविन के सिद्धान्तों ने ईश्वरीय अस्तित्व सिद्धान्त को ही जड़ से हिला दिया। विज्ञान के साथ साहित्य और धर्म को कदम उठाने पड़े। वैज्ञानिक युग में साहित्य एवं धर्म के रूपों में पर्याप्त परिवर्तन आया। आधुनिक काल में धर्म की अपेक्षा विज्ञान की अधिक सहायता साहित्य लेता है।

साहित्य और इतिहास

प्राचीन काल में इतिहास को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा गया था। इतिहास प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इतिहास में अतीत की खोज होती है। इतिहासकार विषयवस्तु और व्यवस्थापन में व्याख्या द्वारा काम लेता है, ऐतिहासिक घटनाओं को कारणबद्ध शृंखलाओं में रखता हुआ व्याख्या के ढंग पर चरित्र के भावों को भी व्यक्त करता है। इतिहासकार को शिलालेख, अभिलेख मुद्रा सिक्के आदि पर निर्भर रहना पड़ता है। घटनाएँ तिथियाँ व्यक्ति विशेष इतिहास के अभिन्न अंग हैं। इतिहास का अर्थ है भूतकाल की घटनाओं और उन घटनाओं से सम्बन्धित स्त्री पुरुषों के चरित्रों का लिपिबद्ध स्वरूप है। इतिहास में सम्राटों सेनापतियों राजनीतिज्ञों राजपुरुषों धार्मिक मठाधीशों के अच्छे या बुरे क्रियाकलापों का लेखा जोखा तथा युद्धों राजनीतिक षडयन्त्रों धार्मिक विद्रोहों इत्यादि का वर्णन आता था। आज कल सांस्कृतिक इतिहास में रीतिरिवाज, परम्परा लोकविश्वास आदि का भी वर्णन होता है।

'साहित्य में भावना रचनात्मक अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य अनुभवों को इस स्तर पर प्रयोग करता है जिससे व आगामी काल तक भी व्याख्या कर सकें। अतीत की व्याख्या के लिए साहित्य को इतिहास पर ही निर्भर रहना पड़ता है। प्राचीन काल में इतिहास को साहित्य का अंग माना जाता था।"

इतिहासकार द्रष्टा होता है । साहित्यकार द्रष्टा और स्रष्टा होता है । साहित्य म इतिहास की सजना होती है । इतिहास मानव जीवन का महाका य है इस स्तर पर जो जीवन का अश यक्त होता है वह साहित्य से अभिन्न है । इतिहास कार को शब्द प्रयोग म निपुणता, स्पष्ट और आकर्षक लेखन रागात्मक तत्त्व की ओर ध्यान देना पडता है । साहित्यकार को इतिहास की अनुकृति ही उनकी कृति न बनें इसका ध्यान रखना पडता है । कृति में सम्प्रेषणीयता प्रामाणिकता अनुभूति की तीव्रता आवश्यक है । उस केवल अनुकरण या विवरण स आगे बढना होता है । उसे अतीत के जीवन कार्यों और उसके पीछे प्रच्छन्न विचारो मनोरागा को पूरे सदभ के साथ प्रस्तुत करना पडता है । इतिहास को राष्ट का जीवन वृत्त और साहित्य को राष्ट की आत्मा कहते हैं । इतिहास अतीत का पुननिमाण करता है साहित्य उस पुनर्जीवित करता है ।

प्रकरण २

काव्य की महत्ता

काव्य हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। शुष्क नीरस जीवन में सरसता और प्रसन्नता के निर्झर बहाने का श्रेय काव्य को है। जीवन की मरुस्थलि में काव्य ओएसीस है। का परम जो स्वर्गसुधा से भी अधिक स्वादुतर किसी कवि ने माना है। इस दुःखमय वेदनामय, यातना से त्रस्त तथा त्रिविध तापों से ग्रस्त जगत में आनन्द का स्रोत काव्य ही है। दुःखों के बीच भी चिंता से मुक्ति दिलाने वाला काव्य है, क्रन्दन के बीच हँसाने वाला काव्य है। इसी का अनुभव करके कहा गया है—

संसार विषवृक्षस्य द्वे एव मधुरे फले।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सज्जनैः सह॥

'काव्य हमारे संस्कार बनाता है। हमारे भीतर स्नेह और मधुराई का विकास करता है, सौंदर्य दृष्टि प्रदान करता है। मानव जीवन काव्य के बिना जी नहीं सकता। काव्य मानव जीवन की असफलता और निराशा की दशा में भी आशा का संचार करता है। जिन श्रेष्ठ और पवित्र सिद्धांतों का मनीषियों ने समाज और धर्मशास्त्रों में निरूपण किया है, उन्हें जीवन में उतार देने का श्रेय और गौरव काव्य को ही प्राप्त है।' काव्य निराकार पदार्थों, भावों और विचारों को साकार और सजीव बनाता है। जीवन के यथार्थ रूप की धारा को अक्षुण्ण और पूर्णरूप से प्रवाहित करते रहना काव्य का ही कार्य है। काव्य समस्त मानवता की सम्पत्ति है।

काव्य के लक्षण (काव्य का स्वरूप)

काव्य के अनेक लक्षण कवियों ने, विद्वानों ने दिए हैं। सुंदर वस्तु के दर्शन से रसिक मन को आनंद मिलता है। किंतु उस सौंदर्य की अनुभूति होते हुए भी वह उसे स्पष्ट कर सकेगा ऐसी बात नहीं है। सौंदर्य की परिभाषा करने में अनेक विचारक असफल रहे हैं। सुंदरता,-काव्य जैसे ललित कलाओं का प्राणतत्व है अतएव काव्य की परिभाषा करना अथवा उसे लक्षणों में बाँधना एक कठिन कार्य बन जाता है। तथापि इन लक्षणों के आधार पर काव्य के स्वरूप और तत्वों को समझना सुकर हो जाता है।

संस्कृत काव्य लक्षण

संस्कृत में नाटक एवं काव्य के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म विचार प्राप्त होते हैं। संस्कृत के आचार्यों के मौलिक चिन्तन का स्फुलिंग उनकी अनेक कृतियों में मिलता है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने अग्निपुराण की काव्य-परिभाषा सबसे प्राचीन मानी है। अग्निपुराण में काव्य को शास्त्र इतिहासादि से भिन्न बतलाते हुए उसको इस प्रकार स्पष्ट किया है —

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।

अर्थात् जिसमें संक्षिप्त वाक्यों द्वारा अभीष्ट अर्थ की व्यंजना हो, अविच्छिन्न पदावली हो तथा जो अलंकार और काव्य गुणों से युक्त तथा दोषों से रहित हो उसी रचना को काव्य कहेंगे।

इस परिभाषा से केवल काव्य का बाह्यरूप स्पष्ट हो जाता है। भामह ने काव्यालंकार में शब्द और अर्थ का महत्त्व देते हुए कहा है —

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव काव्य है। यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक होने के कारण उसमें अति व्याप्ति का दोष आ जाता है। रुद्रट ने एक प्रकार से भामह की परिभाषा दोहराते हुए कहा है —

ननु शब्दार्थौ काव्यम्।

दण्डी की शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली यह परिभाषा अग्निपुराण से मिलती जुलती है।

इसके बाद अलंकार को महत्त्व देते हुए काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। इसके पूर्व काव्य शरीर का विश्लेषण को तथा शब्द और अर्थ के विशिष्ट साहचर्य को महत्त्व मिला था। भामह दण्डी वामन आदि साहित्यशास्त्रज्ञों का पारम्परिक अथवा आज का अलंकारों का संकुचित अर्थ अभिप्रेत नहीं था। सौन्दर्य अलंकार कहकर उन्होंने अलंकार की धारणा स्पष्ट की। इन विचारों की पृष्ठभूमि पर ही काव्यं ग्राह्यमलंकारात् परिभाषा को ग्रहण करना चाहिए। वामन और दण्डी के निरूपण में भी अन्तर है। दण्डी शोभा करने वाले धर्म को अलंकार मानता है लेकिन वामन के अनुसार अलंकार गुण के उत्कर्ष के कारण स्वरूप हैं। आगे चलकर आचार्यों में जो मतभेद रहा वह अलंकार के इन्हीं दो स्वरूपों के कारण। गुण के आधार पर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक ग्रंथ में अर्थ को काव्य का शरीर बनाकर ध्वनि को आत्मा माना है। आचार्य कुन्तक ने ध्वनि का खंडन कर वक्रोक्ति

ना काव्य का जीवन माना है। इसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य, भट्ट ने अनुमिति और विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार की। काव्य की आत्मा ढूँढने वाली इन्हीं परिभाषाओं से (रीतिरात्मा काव्यस्य आदि) रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अनुमिति, अलंकार, रस से सम्बन्ध रखने वाला काव्य सम्प्रदायों का विकास हुआ।

इसके बाद संस्कृत की प्रसिद्ध काव्य परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत आलोचकों में तीन ग्रन्थ सर्वमान्य रहे हैं — मम्मट का काव्यप्रकाश, विश्वनाथ का साहित्य दर्पण और जगन्नाथ का रसगंगाधर।

मम्मट की परिभाषा अग्निपुराण से मिलती जुलती है —तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। अर्थात् ऐसे शब्द और अर्थ को कविता कहते हैं जिसमें दोष न हों, गुण हों, अलंकार हों और कभी कभी अलंकार न भी रहें। यह परिभाषा काव्य का कोई तात्त्विक और मार्मिक स्वरूप स्पष्ट नहीं कर पाती।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ऐसी काव्य की परिभाषा की है। अर्थात् रस भरी भाषा को कविता कहते हैं। यदि हम शास्त्रीय दृष्टि से जिस वाक्य में रस सञ्चार न हुआ हो उसे ही काव्य मानेंगे तो काव्य का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो जायगा और अनेक काव्य पंक्तियाँ इसके क्षेत्र से निकल जायेंगी।

पण्डित जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' काव्य का लक्षण दिया है। इस पर यह आपत्ति उठायी जाती है कि शब्दों में सदैव रमणीयता नहीं होती, पूरे वाक्य से रमणीयता का प्रतिपादन होता है। शब्द चमत्कार द्वारा काव्य में जो रमणीयता और कवित्व आता है उसकी भी उपेक्षा नहीं होना चाहिए।

अंग्रेजी काव्य लक्षण

पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है।

Poetry is at bottom a criticism of life—मैथ्यू आर्नल्ड

अर्थात् काव्य जीवन की आलोचना है।

Poetry, we will call musical thought—कार्लाइल

अर्थात् काव्य संगीतमय विचार है।

Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquality—वर्ड्सवर्थ—अर्थात् कविता उत्कृष्ट भावनाओं का सहजोद्रेक है। इसकी उत्पत्ति शान्ति में संचित अनुभूतियों से होती है।

Poetry is the best words in their best order—कालरिज

अर्थात्–सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में कविता होती है।

Poetry is interpretation of life through emagination and emotion–हडसन अर्थात्–जीवन की व्याख्या, कल्पना और मनोवेग द्वारा करना काव्य है।

Poetry is articulate music–ड्रायडन अर्थात कविता संगीत है।

Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling emagination to help of reason डॉ॰ जानसन अर्थात्–कविता सत्य और आनन्द के मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।

Poetry is the art of expressing in melodious words, thoughts which are the creation of imagination and feelings चेंबर्स शब्दकोश–अर्थात कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला कविता है।

कार्लाइल और ड्रायड ने कविता को संगीत मानकर केवल काव्य के एक पक्ष का उद्घाटन किया है। संगीत कविता का अनिवार्य तत्व नहीं है। कालरिज ने सर्वोत्तम शब्दों को महत्ता दी किन्तु उन्हें स्पष्ट नहीं किया। कालरिज की परिभाषा स्वीकृत करेंगे तो आज का अधिकांश काव्य काव्य नहीं रहेगा क्योंकि उनमें अनेक अनुत्तम शब्दों का प्रयोग है। अर्नोल्ड की परिभाषा केवल उत्तम काव्य की विशेषता स्पष्ट करती है। पाश्चात्य विद्वान कल्पना, भावना बुद्धि (thought) सत्य और अभिव्यक्ति को अधिक महत्ता प्रदान करते हैं यह बात वर्डसवर्थ, डा॰ जानसन तथा चेंबर्स की परिभाषाओं से प्रमाणित होती है।

हिन्दी काव्य लक्षण

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों ने काव्य की परिभाषा देते समय प्रायः संस्कृत आचार्यों का छायानुवाद सा कर दिया है और आधुनिक विद्वानों पर अंग्रेजी का प्रभाव है, इसी कारण हिन्दी में प्राप्त अधिकांश काव्य लक्षणों में मौलिकता का अभाव है।

सगुन अलंकारन सहित दोष रहित जो होई
शब्द अर्थ वारो कवित विबुध कहत सब कोई—चिंतामणि त्रिपाठी

उपर्युक्त परिभाषा पर मम्मट का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। कुलपति मिश्र श्रीपति आचार्य सोमनाथ इनकी परिभाषाओं पर मम्मट के काव्य प्रकाश का पूर्णतः प्रभाव दिखाई देता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने 'काव्य और कविता' शीर्षक लेख में लिखा है – जब मनोभाव शब्दों का रूप धारण कर लेते हैं तब वही कविता

कहलाने लगते हैं चाहे वह पद्यात्मक हो या गद्यात्मक।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने 'कविता को जीवन और जगत की अभिव्यक्ति माना है।' जयशंकर प्रसाद जी के अनुसार काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है। वह एक श्रेयमयी रचनात्मक ज्ञानधारा है। सुमित्रानन्दन पंत ने कहा है कि 'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।"

इन पर विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत आचार्यों की उक्तियां का अनुवाद किया है तो आधुनिक विद्वानों ने पाश्चात्य काव्य लक्षण धारा को ही प्रतिध्वनित किया है, किन्तु उनकी विचारधारा में मौलिकता का कुछ अंश मिल जाता है।

काव्य के तत्त्व (साहित्य के तत्त्व)

हडसन के अनुसार काव्य के चार तत्त्व हैं—कल्पना तत्त्व (Element of imagination) बुद्धि तत्त्व (Element of intellect) भावतत्त्व (Element of emotion) और शैली तत्त्व (Element of style) इन पर हम क्रमशः विचार करेंगे —

कल्पना तत्त्व

पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना को काव्य के एक आवश्यक तत्त्वों में स्थान माना है। ड्यूगल्ड स्टयूवर्ट ने लिखा है— (An uncommon degree of imagine constitutes poetical genius) अर्थात असाधारण कल्पना ही काव्य निर्माण की शक्ति उत्पन्न करती है। कल्पना शब्द संस्कृत के कल्प् धातु से बना है जिसका अर्थ है निर्माण। जहाँ रवि की पहुँच नहीं है वहाँ भी कवि की पहुँच है। इस शक्ति द्वारा कवि की, कल्पना की गति समझी जा सकती है। धर्मोपदेश, तत्त्वचिंतक विचारकों के विचार समाज ठीक तरह ग्रहण नहीं कर पाता, किन्तु कवि कल्पना का स्पर्श होते ही जनसमाज उन्हें आनन्द से पी जाता है। विज्ञान में जो बुद्धि है दर्शन में दृष्टि है वही कविता में कल्पना है। सुन्दरता के जगत की सृष्टि करने का श्रेय कल्पना को ही है। अमूर्तों को समूर्त बनाना भावों का साक्षात्कार करना कल्पना के द्वारा ही होता है। साधारण घटनाओं को कल्पना का आश्रय लेकर कवि असाधारण बना देता है। सुदूर वस्तु को निकट लाना है काल देश—भूमि इनका अन्तर कवि कल्पना द्वारा मिटा देता है। काव्य के अन्तर्गत सत्य का, दृश्यों, पात्रों घटनाओं रूपों के द्वारा हम साक्षात्कार करते हैं।, अतः इस काव्य के लिए कल्पना तत्त्व का प्रधान महत्त्व है। कवि रसहीन शुष्क नीरस घटनाओं को अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा जब रसरूप में प्रस्तुत करता है तब पाठक का हृदय रससिक्त हो जाता

भूत होने वाली निपुणता, काव्य जानने वालों की शिक्षा, उसका अभ्यास आदि ही काव्य की उत्पत्ति का मूल कारण है। मम्मट के इस मत से संस्कृत के अधिकांश आचार्य सहमत हैं। इस पर हम विचार करेंगे —

प्रतिभा–काव्यकारण प्रतिभा को इसे कुछ शक्ति और कुछ कल्पना कहते हैं। आनन्दवर्द्धन ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रतिभा को श्रेष्ठ माना है। प्रतिभा की व्याख्या करते हुए भट्टतौत ने लिखा है–प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। अभिनवगुप्त ने इसे अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा माना है। दण्डी के अनुसार प्रतिभा पूर्ववर्ती संस्कारों और गुणों पर अवलंबित ज्ञान है। प्रतिभा शक्ति को संस्कार विशेष कवित्व बीज रूप मानकर मम्मट ने उसके बिना काव्य रचना करना असंभव बताया है। रुद्रट ने प्रतिभा के सहजा और उत्पाद्या ये दो भेद बताये हैं। सहजा ईश्वरप्रदत्त और पूर्वसंस्कारों द्वारा संचित जन्म जात शक्ति है। उत्पाद्या शास्त्र लोकानुभव अथवा सत्संग से प्राप्त होती है। प्रतिभा ही काव्य की कारयित्री शक्ति है। इसको स्पष्ट करते हुए जयदेव ने कहा है कि ज्ञान और अभ्यास प्रतिभा रूप बीज को अंकुरित करने के लिए मिट्टी और जल के तुल्य हैं अतः प्रमुख कारण प्रतिभा है।

प्रतिभा को अलौकिक ईश्वर प्रदत्त मानने का कारण उसकी दुर्लभता में है। शास्त्रज्ञ कवि दार्शनिक इनमें अपूर्ववस्तुनिर्मितप्रभा मिलती है। एक ओर प्रतिभा को ईश्वरीय देन मानते हैं तो दूसरी ओर इटालियन विद्वान लोंब्रासो प्रतिभा को मानसिक विकृति मानते हैं। प्रतिभावान कवियों में कुछ पागलपन की झांकी दिखाई दी उसके आधार पर यह निष्कर्ष लोंब्रासो ने प्रस्तुत किया जो सर्वथा अमान्य है।

प्रतिभा सहजता है। यूरोपीय काव्यशास्त्र में इन्स्पिरेशन इमजिनेशन जीनियस इत्यादि नामों से प्रतिभा को सम्बोधित किया है। प्लेटो और उसके परवर्ती समीक्षकों ने प्रतिभा को ही काव्यनिर्माण कारणों में प्रमुख स्थान दिया है।

व्युत्पत्ति–संस्कृत आचार्यों ने प्रतिभा के बाद व्युत्पत्ति की चर्चा की है। व्युत्पत्ति को ज्ञान श्रुत कहते हैं और वह श्रुत भी निर्मल होना चाहिए यह अपेक्षा करते हैं। मम्मट इस निपुणता कहकर लोकशास्त्र काव्यादि के अवेक्षण से बहुश्रुतता ज्ञानी है ऐसा बताया है। लोक शब्द में चराचर सृष्टि का अन्तर्भाव होता है। शास्त्र शब्द में छन्द, व्याकरण नृत्यगीत वादन चित्रकला आदि चौंसठ कलाओं का कम से कम साधारण जानकारी धर्मार्थ काम मोक्ष पर के ग्रंथों का ज्ञान मनुयाज्ञवल्क्यादि के ग्रंथ वात्स्यायन के कामसूत्र सांख्य न्याय मीमांसा आदि सांख्यिक दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान आदि का समावेश होता है। काव्यपदों का अर्थ पूर्ववर्ती महाकवियों की रचनाएँ आदि का

ज्ञान काव्य में शब्द द्वारा सूचित किया है। ऐसी बहुश्रुतता से कोई व्यक्ति प्रकाण्ड पंडित ही बनेगा, किंतु यह सारा ज्ञान क्या वह एक जन्म में प्राप्त कर सकेगा ?

काव्य मीमांसाकार व्युत्पत्ति को बहुज्ञता कहते हैं, तो रुद्रट न छन्द व्याकरण कला, लोकस्थिति, पद और पदार्थों के विशेष ज्ञान से उचित अथवा उचित अनुचित का सम्यक परिज्ञान को व्युत्पत्ति कहा है। प्रतिभावादी आचार्य व्युत्पत्ति में कोई आस्था नहीं रखते। महिमभट्ट न लिखा है कवि की प्रतिभा शिव के तृतीय नेत्र के सदृश होती है। जिस प्रकार संसार का ऐसा कोई विषय नहीं है जो शिव के तृतीय नेत्र की पहुँच के बाहर हो, उसी प्रकार कोई ऐसा काव्यार्थ नहीं है जो कविता की उद्भावना-शक्ति से परे हो।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि केवल पांडित्य अथवा विद्वत्ता से काव्य रचना करना असंभव सी बात है। केवल विद्वत्ता के बल पर व्याकरण शुद्ध चमत्कृतिपूर्ण कविता सृजन किया जा सकेगा परन्तु उसमें अमरत्व अथवा आनन्द प्रदान करने की शक्ति नहीं होगी।

अभ्यास

भारतीय आचार्यों ने काव्य निर्माण का तृतीय हेतु अभ्यास बताया है। भामह ने लिखा है कि शब्दार्थ के स्वरूप का ज्ञान करके सतत अभ्यास द्वारा उनकी उपासना करनी चाहिए। और साथ ही साथ दूसरों के निबन्धों का भी अध्ययन करना चाहिए जिससे अभ्यास नित्य प्रति दृढ़ होना चाहिए। दण्डी ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति के अभाव में केवल अभ्यास से ही काव्यनिर्मिति का होना बताया है। इसके विपरीत प्रतिभावादी कवि—यथा आनन्दवर्धन—काव्य के उद्भव में अभ्यास को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देते हैं। मम्मट ने काव्य रचना के लिए अभ्यास का आदेश दिया है। सतत अभ्यास से सुकवि की रचना पाक या परिपक्वता को प्राप्त होती है। काव्य मीमांसाकार ने लिखा है कि मंगल कवि केवल अभ्यास को ही काव्योत्पत्ति का प्रमुख हेतु मानते हैं। वस्तुतः काव्य का बाह्यांग आकर्षक, निर्दोष सुन्दर और मोहक अभ्यास द्वारा ही सकता है। कलात्मक सजावट, रसानुकूल वर्णरचना, अर्थव्यंजक शब्द प्रयोग काव्य दोष से रहित तथा काव्य गुणों से युक्त काव्योत्पत्ति सतत अभ्यास द्वारा ही संभव है। कवि के सहज उद्गारों को रमणीयत्व अभ्यास से आता है।

प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास—ये तीन काव्य के उत्पादक कारण हैं। शारीरिक स्वस्थता, मानसिक स्वस्थता परिस्थिति आदि काव्य निर्माण के सहायक कारण हैं।

प्रतिमा और कल्पना

कवि की अपूर्व शक्ति के दो स्रोत माने गए हैं—एक बाह्य और अलौकिक दूसरा स्वभाव जन्म तथा आन्तरिक। कवि की प्रतिमा को ईश्वरप्रदत्त देन अथवा ईश्वरीय प्रसाद माना जाता था। इस विश्वास की मान्यता मंगलाचरण अथवा इष्टदेव अथवा देवता की स्तुति में दिखाई देती है। भारतीय कवि जिस प्रकार कृपा के प्रसाद की याचना करता था तो यूरोपीय कवि भी काव्य देविया का आवाहन ! यूरोप में इस अलौकिक प्ररणा (Inspiration) पर बहुत कुछ कहा गया है। प्लेटो ने इआन (Ion) म कहा है —All good poets epic as well as lyric compose their beautiful poems not by art but because they are inspired अर्थात् सभी उच्चकोटि के कवि अपने कौशल से काव्य रचना नहीं करते बल्कि अलौकिक प्रेरणा से करते हैं। प्लेटो के परवर्ती समीक्षकों ने कवि कौशल तथा प्रतिमा को ही काव्य रचना का मुख्य कारण बताया। १८ वी शताब्दी के स्वच्छन्दतावादी युग ने भी दैवी प्रेरणा का समर्थन किया। यह प्ररणा बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी रूप धारण करने लगी थी, जिसका संकेत हमें शेली के डिफेन्स आफ पोएट्री में मिलता है। यह शक्ति व्याख्यातीत अनिर्वचनीय अलौकिक असाधारण प्रखर है जिसके द्वारा साहित्य निर्माण होता है। इसलिए पूर्व तथा पश्चिम दोनों के काव्यशास्त्रियों ने कवि की स्वाभाविक शक्ति पर ही अधिक बल दिया है। भारतीय आचार्यों ने इसे प्रतिमा कहकर उसकी नई दृष्टिकोणों से परिभाषा की। वामन ने इसे 'कवित्व बीज' कहा तो भट्टतौत ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा कहा है। अभिनव गुप्त ने इसे अपूर्व वस्तु निर्माण करने की योग्यता रखने वाली प्रज्ञा' कहा है। प्रतिमा की सहायता से कवि को परोक्ष वस्तु प्रत्यक्ष प्रतीत होती है और अदृष्ट वस्तुएं दृष्टिगोचर होने लगती हैं। यह कविता की नई दृष्टि होती है। कवि की प्रतिमा वस्तुओं की आत्मा का साक्षात्कार करती है और परिचित वस्तुओं के ऊपर का आवरण हटाकर उनकी चिरनूतनता का परिचय देती है। महिम भट्ट के अनुसार कवि की प्रतिमा शिव के तृतीय नेत्र के समान है जो त्रिलोक के सभी भावों का साक्षात्कार कराती है। यही प्रतिमा कवि को स्रष्टा बनाकर ऐसी विलक्षण मौलिक सृष्टि की रचना कराती है जो ब्रह्मदेव की सृष्टि में दुर्लभ हो। यह शक्ति काव्य का प्राण है और इसके न रहने से अलंकार रीति गुण इत्यादि कवि की चमत्कार पैदा करने में असमर्थ रहते हैं। प्रतिमा कवि की जन्मजात शक्ति है। इसका विकास तथा परिष्कार परिश्रम अनुशीलन ईश्वर के प्रसाद से होता है। रुद्रट ने प्रतिमा के सहजा और उत्पाद्या दो भेद किए हैं। काव्यमीमांसा में कारयित्री और भावयित्री ऐसे

दो भेद हैं। प्रतिभा बहुरूपा है और उसमें सभी शक्तियों का समावेश है जो यूरोपीय काव्यशास्त्र में इंट्यूशन इमेजिनेशन, जीनियस आदि नामों से प्रचलित हैं। प्रज्ञा और प्रतिभा पश्चिम के रीजन (Reason) और इमजिनेशन (Imagination) का पर्याय है। इमेजिनेशन को रीजन की पराकाष्ठा कहा गया है। (Reason in her most exalted mood)

इमेजिनेशन और फेंसी एक ही शक्ति दो भिन्न नाम रहे—एक रोमन, दूसरा यूनानी। यूनानी दार्शनिकों ने इसे फेंटासिया' माना। अरस्तू ने इसी शक्ति को कवि का निजी तथा नैसर्गिक गुण कहा है। रोमन काल में इमजिनेशन शब्द का प्रयोग वक्ता या लेखक की अदृष्ट वस्तुओं की विशद वर्णन करने वाली प्रभाव उत्पन्न करने वाली शक्ति के लिए किया जाता था। प्लेटो के शिष्य प्लाटिनस ने इसे सृष्टि कर्ता की शक्तिसहोदरा कहा। इसी प्रकार प्रोमथ्यूज ने चोरी से अग्नि पृथ्वी पर ले आना—पृथ्वी पर अवतरित स्वर्गीय अग्नि ही कारयित्री प्रतिभा का प्रतीक माना है। नव जागरण युग में ऐपालोजी ने कविशक्ति का इन्वेन्शन (Invention) नाम से विवेचन किया। प्रकृति सृष्टि पीतल के समान है जिसे कवि स्वर्ण में परिवर्तित कर देता है। बेकन ने कहा है कि इमजिनेशन प्रकृति के नियमों से अनुशासित नहीं रहती। दार्शनिक हाब्ज के अनुसार कवि कल्पना एक चंचल नदी है जो संसार की समानता रखने वाली समस्त वस्तुओं को एक क्षण में एकत्र करने में समर्थ है। इसीलिए इसका विवेक द्वारा अनुशासन होना चाहिये। १८ वीं शताब्दी का कवि शक्ति का निरूपण न्यूटन के भौतिकवादी सिद्धान्तों से प्रभावित है और उसका प्रभाव एडिसन के Pleasures of Imagination में पाया जाता है तो १९ वीं शताब्दी का विवेचन जर्मनी के आदर्शवादी दर्शन तथा प्राणिशास्त्र की मान्यताओं से प्रभावित है जिसके प्रवर्तक हैं कोलरिज। एडिसन ने फैंसी और इमजिनेशन को पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया है। कवि में यह शक्ति क्रियात्मक होती है और इसी शक्ति से वह अलौकिक वस्तुओं का निर्माण करता है और ईश्वर की सृष्टि से अत्यधिक सुन्दर सृष्टि को जन्म देता है जो मनुष्य की कुंठित इच्छाओं को पूर्णतया सन्तुष्ट करती है। काण्ट और शॉलिंग से प्रभावित कोलरिज के प्राइमरी इमजिनेशन और सेकेंडरी इमेजिनेशन की परिभाषा कर फैंसी-स्वच्छन्द कल्पना से भिन्न बताया। कवि की प्रतिभा उसी समय जागरूक तथा सक्रिय होती है जब उसका आभ्यन्तरिक आनन्द प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। कोलरिज और वर्ड्सवर्थ ने इसे मानव प्रकृति का गठबन्धन (wedding) कहा है। कवि की प्रतिभा दो वस्तुओं का एकीकरण करती है परन्तु फैंसी उन्हें केवल एक दूसरे के निकट प्रस्तुत कर

देती है। इमेजिनेशन द्वारा निर्धारित वस्तु रचना करता है और स्वच्छन्द कल्पना (Fancy) की रचना सजीली है। इमेजिनेशन दो विरोधी तत्वों का समन्वय है। इसी से गम्भीर तथा अगम्भीर परिचित तथा अपरिचित भूत भविष्य वर्तमान आदि तत्व समन्वित कवि-सृष्टि का उन्मीलन करते हैं और अनेकता को एकता में बाँधते हैं। कला का प्राण कल्पना है क्योंकि इसी से बाह्य वस्तुओं का आन्तरिक का बोधगम्य होता है। क्रोचे ने अपने अभिव्यञ्जनावाद में प्रतिभा का अद्भुत रूप स्वीकार किया है। [illegible] ने प्रतिभा को heavenly gift नाम से सम्बोधित किया है।

काव्य प्रयोजन और विधिवाद (काव्य का उद्देश्य अथवा कविकर्म)

भारतीय आचार्यों ने काव्य प्रयोजन बहुत कुछ लिखा है। मम्मट ने इसके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसे नीचे उद्धृत किया जाता है। मम्मट ने लिखा है।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

अर्थात् यश, अर्थप्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, अशुभ निवारण, तुरन्त आनन्द, और कान्तासम्मित उपदेश काव्य के प्रयोजन हैं। भामह ने धर्म अर्थ काम मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ, कला में प्रवीणता, आनन्द और कीर्ति के प्रयोजन माने हैं। वामन केवल प्रीति और कीर्ति (आनन्द और यश) को ही मान्यता देता है। रुद्रट चतुर्वर्ग प्राप्ति के लिए काव्य का प्रयोजन मानता है। नाट्यशास्त्रकार ने दुःखी श्रमित और शोक के तत्वों का मनोरंजन यह एक और प्रयोजन मम्मट की सूची में समाविष्ट किया। तुलसीदास जी ने स्वान्तःसुखाय और कबीर ने लोक संग्रह की भावना काव्य का उद्देश्य बताया। मम्मट के प्रयोजन विचार करेंगे —

अर्थ प्राप्ति—अतीत काल में राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों को धनप्राप्ति होती थी। फिरदौसी ने शाहनामा ग्रंथ द्रव्यप्राप्ति के उद्देश्य से लिखा। कालिदास बाणादि को काव्य रचनाओं द्वारा धन मिला। किन्तु सभी कवियों को धन मिला होगा, अथवा मिल्टन दांते अथवा आधुनिक कवि केवल धनप्राप्ति के लिए लिखते रहे होंगे कहना समीचीन नहीं होगा।

यश—व्यक्ति कीर्ति अथवा यश प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। सामान्य व्यक्ति भी कीर्तिप्राप्ति की लालसा करता है। कवि भी इससे अपवाद नहीं हैं। परन्तु अनेक कलाकारों को मृत्यु के बाद कीर्ति प्राप्त होती

है उनके लिए--Fame is a food that dead men eat यह उक्ति चरितार्थ होती है। बालकवि चैटटन, फ्रेंच चित्रकार पॉलगोगँ को मरणोपरान्त कीर्ति मिली।

व्यवहार ज्ञान–मम्मट के इस प्रयोजन का अनेक संस्कृत आचार्यों ने समर्थन किया। पंचतंत्र, हितोपदेश आदि रचना का यही प्रयोजन था। व्यवहार ज्ञान प्रयोजन कवि की वैयक्तिक दृष्टि से निरर्थक है, पाठकों की दृष्टि से प्रभाव के रूप में-अथवा काव्य द्वारा ज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से यह प्रयोजन उचित हो सकता है।

शिवेतर क्षतये-(अशुभ निवारण) काव्य द्वारा अशुभ निवारण करना अथवा कर लेना यह अतिशय गौण प्रयोजन बताया जाता है। मयूर ने सूर्य शतक की रचना कर और पंडित जगन्नाथ ने गंगालहरी की रचना कर कुष्ठ रोग से मुक्ति पाई। प्राचीन काल में परमात्मा की स्तुति और प्रसन्नता के लिए कवि काव्य रचना करते थे तब यह प्रयोजन माना गया, आज इसका कोई महत्व नहीं रहा है।

प्रीति-संस्कृत आचार्यों ने इसे काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना है। प्रीति का अर्थ है आनंद। राजशेखर ने लिखा है-संपूर्ण काव्यार्थ स्वाद से उत्पन्न जो आनंद वह प्रीति है। अभिनवगुप्त और आनन्दवर्धन इसी को काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते हैं। भामह ने करोति कीर्तिञ्च प्रीतिञ्च और वामन ने प्रीति कीर्ति हेतुत्वाद लिखकर इसी प्रयोजन को महत्व दिया। कवि कर्म और काव्यास्वादक दोनों को काव्य निर्मिति से आनंद मिलता है। यह आनंद अलौकिक ब्रह्मानंदसदृश होता है। पाश्चात्य और पौर्वात्य प्राचीन और अर्वाचीन सभी साहित्यज्ञों ने इस अनिर्वचनीय आनंद को श्रेष्ठ माना है। लौकिक आनंद से यह आनंद भिन्न होकर उच्चकोटि का होता है।

कान्ता सम्मित उपदेश—उपदेश तीन प्रकार के होते हैं-प्रभु सम्मित, सुहृद सम्मित और कान्ता सम्मित। प्रभु सम्मित उपदेश के उदाहरण वेद शास्त्रादि के विधि वाक्य हैं। अहरहः सन्ध्यामुपासीत, Thou shalt not kill आदि आज्ञाओं का भी उसमें समावेश होता है। पुराणादि सुहृद सम्मित उपदेश के उदाहरण हैं। इसमें आज्ञा अथवा आदेश की प्रवृत्ति नहीं होती। काव्य में कान्ता सम्मित उपदेश सन्निहित होता है। जिस प्रकार कान्ता विनय, ऋजुता आँसुओं के सहारे पुरुष से बात कहती है उसी प्रकार काव्य भी मधुर कथा और ध्वनि के सहारे मनुष्य को उच्च आदर्शों की शिक्षा देता है। अधिकांश काव्य में उपदेश वृत्ति प्रधान नहीं होती है। काव्य में उपदेश मधुर होता है जैसे मिठाई के लोभ से बालक कटु औषधि खा लेते हैं उसी प्रकार मधुर अमृत

से समग्र काव्य में ध्वनित उद्देश्य प्राप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी मानवहित को डा० नगेन्द्र आत्माभिव्यक्ति को आ० नन्ददुलारे वाजपेयी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को काव्य का प्रयोजन मानते हैं।

विविधवाद

काव्य का उद्देश्य, अथवा प्रयोजन को लेकर अनेक मतवाद प्रचलित हुए हैं। इन मतवादों पर पाश्चात्य विचारकों की छाया है। यहाँ हम प्रमुख वादों पर विचार करेंगे —

कला कला के लिए—काव्य और कला के आवश्यक नैतिक धार्मिक प्रचारवादी दृष्टिकोण ने इस वाद को उपस्थित किया। १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आरनल्ड रस्किन कला को नैतिकता के प्रभुत्व में नियन्त्रित कर रहे थे, तब फ्रांस के बोदलेयर फ्लाउबे आदि कतिपय लेखक तथा कलाकार कला की निर्बाध स्वतन्त्रता के लिए संघर्षशील रहे। इस नये वाद का बीज कलाकार तथा लोक समाज के पारस्परिक विरोध में निहित था। कलाकार का यह विश्वास था कि वैज्ञानिक विकास जनित औद्योगिक तथा व्यावसायिक सभ्यता काव्य तथा कला के लिए घातक सिद्ध हुई है और सामाजिक जटिलता के कारण उस पर इतना भार पड रहा है कि उसकी सत्ता ही निर्मूल हो जाना चाहती है। इसलिए कला के स्वास्थ्य तथा पवित्रता के लिए यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इसकी स्वतन्त्रता की घोषणा की जाय और इसको धर्म, समाज, नैतिकता इत्यादि के अनावश्यक तथा जटिल बंधनों से मुक्त करके इसकी मर्यादा की रक्षा की जाय। एक तरह यह सिद्धान्त स्वच्छन्दतावादी धारणाओं तथा समसामयिक दार्शनिक विचारों का पर्यवसान था। एडगर एलन पो वाल्टर पेटर स्विनबर्न ह्विस्लर आस्कर वाइल्ड इस सिद्धांत के प्रबल समर्थक थे। ब्रैडले अपने प्रसिद्ध निबन्ध Poetry for poetry's sake में इसकी पुष्टि की है। काव्य का उद्देश्य धार्मिक सांस्कृतिक लक्ष्य सिद्ध करना नहीं है। काव्य वास्तविक जीवन का अंग अथवा अनुकरण नहीं, यह एक स्वतन्त्र क्षेत्र है नितान्त पूर्ण तथा पराश्रय निरपेक्ष। यह सिद्धांत कला की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थक रहा है इस स्वतन्त्रता का मुख्य अंग था समाज की दृष्टि से अनैतिक विषयों का वर्णन—कामवासना या यौनि सम्बन्धों का नग्न प्रदर्शन। फ्लाउबे (Flaubert) की मैडम बोवेरी (Madam Bovary) इसी सिद्धांत का प्रसिद्ध उदाहरण है। इलियट, जार्ज बर्नार्ड शॉ, आई० ए० रिचर्डस् गाल्सवर्दी प्रभृति विचारक इस स्वच्छन्द अनैतिकता के विरोधी थे। कला को

कला के लिए मानने वाले सिद्धान्त रूप में चाहे कितने ही ठीक क्यों न हों, परन्तु व्यवहार में नैतिकता से सम्बन्ध विच्छेद कर कुरुचिपूर्ण अश्लील दूषित अथवा वीभत्स साहित्य का निर्माण समाज विघातक एवं काव्य का प्रमुख प्रयोजन आनन्द प्राप्ति के विरुद्ध है।

कला जीवन के लिए

काव्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध है। जीवन पर प्रभाव डालने वाली और उस विकसित करने वाली परिस्थितियाँ सिद्धान्त, युगानुकूल बातें कला को भी प्रभावित करती हैं। जीवन जितना समृद्ध सुसंस्कृत उन्नत उदात्तमय रहेगा, उतनी ही उसकी गोद में पलने वाली कला उच्चकोटि की हो जायगी। काव्य के बिना जीवन रूक्ष होगा। काव्य जीवन को प्रेरणा एवं सरसता प्रदान करता है। कला का उद्देश्य-मुरझाए मन मन कर हित होई है। मार्क्सवाद ने जीवन के प्रति देखने का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। जीवन की खाद पर ही कला फलती फलती है। यह सिद्धान्त Art for Art's sake के विरोध में Art for Life's sake के अर्थ में प्रचलित हुआ।

जीवन से पलायन के अर्थ

हम अपने हररोज के दर्दपूर्ण कटु और एक रस जीवन से ऊबकर, सुन्दर स्वस्थ, बहुरंगी जीवन का दर्शन पाने के लिए काव्य और कला का माध्यम ग्रहण करते हैं। अभावग्रस्त एवं चिन्ताग्रस्त जीवन से छुटकारा पाकर हम सुन्दर जीवन की इच्छा करते हैं। यथार्थ जीवन की कटुता से भागकर काल्पनिक सुखी जीवन के चित्र चित्रित करना पलायनवाद है। अंग्रेजी में रोमांसवादी और हिन्दी का छायावादी और मराठी का रविकिरण मंडल का काव्य इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। अंग्रेजी का जेम्स हिल्टन का उपन्यास Lost Horison इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है। अंग्रेजी में उसे Escapism कहते हैं।

मनोरंजन अथवा आनन्द के लिए

काव्य का एक प्रमुख प्रयोजन आनन्द अथवा आनन्द सर्वमान्य तथ्य है। प्लूटार्क (plutarch) तथा अन्य यूरोपीय साहित्यिकों ने इस बार बार दुहराया है। एक संस्कृत श्लोक में कहा है—

> काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
> व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

अर्थात्–विद्वान् अपना समय काव्यशास्त्र विनोद में व्यतीत करते हैं तो मूर्ख अपना समय निद्रा व्यसन कलह में व्यतीत करते हैं।

काव्य का आनन्द अलौकिक और अनुपम है और इसमें चित्तवृत्तियों की पूर्ण तन्मयता रहती है और इससे मानसिक प्रसन्नता भी रहती है। इस प्रयो

मन के सौन्दर्य से अलग नहीं है। क्रोचे स्वयं का अभिव्यंजना से लिया हुआ आकार का रूप ही मानते हैं।

सेवा के अर्थ में

कला का एक प्रयोजन मानवता की सेवा भी बताया जाता है। टॉल्सटॉय इस मत के समर्थक थे। कलाकार अपने मत के अनुसार चित्रित करता रहता है उसमें अपने मन के अनुकूल सिद्धान्त आ जाते हैं। सेवा का उद्देश्य यदि इसे इस तरह लिया जायगा तो वह कृति उत्कृष्ट नहीं होगी। कलाकार युगानुसार अपनी भावना से कोई व्यापक सेवा का तत्त्व स्वीकार करते हुए लिखता है। टॉल्सटॉय ने अपने ग्रंथ What is Art में मानवता के कल्याण के लिए कला का महत्त्व माना है।

आत्म-साक्षात्कार के अर्थ (आत्माभिव्यक्ति)

रसिक हृदय कलाकार से कला आनन्द चाहता है उसी प्रकार कलाकार भी अपना भावना आदि अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है उसे ही Expression कहते हैं। आत्म निष्ठात्मक काव्य लिखा जाता कवि यह अभिव्यक्ति प्रायः गीति से करता है। सन्त कविता ने भक्ति भावना का और आधुनिक कवियों ने अपनी प्रेम भावना की अभिव्यक्ति प्रायः गीतों और गीति काव्य द्वारा की है। इन भावनों के साथ विचारों की भी अभिव्यक्ति होती है। कवि जीवन की आलोचना अथवा व्याख्या Interpretation of life या criticism of Life अपनी कृतियों द्वारा प्रकट करता है। जीवन विषयक अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए कवि लालायित रहता है और फिर वह आत्माभिव्यक्ति को स्थान देता है। वस्तुतः मनुष्य का सारा जीवन एक प्रकार से आत्माभिव्यक्ति होती है। मनुष्य के बोलचाल रहन सहन से ही उसका व्यक्तित्व लक्षित होता है। कवि का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृतियों द्वारा प्रकट होता है। आत्माभिव्यक्ति का स्वरूप व्यापक रहता है। कवि जब अपने अनुभवों का प्रकाशन करता है तो उसमें लोक अथवा निजी अनुभूतियों को भी व्यक्त पाता है।

उदबोधन

कुछ विद्वान् आनन्द की अपेक्षा उद्बोधन को साहित्य के प्रयोजन में प्रधानता देते हैं। काव्य के उद्देश्यों में आनंद से श्रेष्ठतर अथवा उदात्त तत्त्व के आग्रह के कारण उद्बोधन को महत्ता दी गई है। उपयुक्तता से आनंद को और आनंद से उद्बोधन को अधिक महत्त्व है। समाज का उद्बोधन कर लोगों में जागृति करना यह काव्य का उद्देश्य उद्बोधन पक्ष के समर्थक प्रस्तुत

करते हैं। रजन और आनन्द को कला का अभिन्न अग मानकर सामाजिक दृष्टि से आधुनिक काल मे साहित्य से उद्बोधन की अपेक्षा की जाती है। इस पर आक्षेप इस प्रकार किया जाता है कि इससे साहित्य प्रचारात्मक रहेगा और उसमें रजकत्व नहीं रहेगा। ज्ञान की विविध शाखाओ का ज्ञान आधुनिक काल में अनेक छोटी छोटी पुस्तकों के द्वारा भी सामान्य लोगों को उपलब्ध हो रहा है, फिर उन का ही प्रचार करने से क्या उद्बोधन और लाभ होगा। रजकत्व से युक्त एव कलात्मक दृष्टि से किसी बात को प्रस्तुत कर सकते हैं। राजनीतिज्ञ, धर्म मठाधिपति उद्बोधन के पक्ष में होते हैं। उद्बोधन साहित्य का प्रधान प्रयोजन नहीं है।

काव्य की आत्मा

काव्य का आत्मा के लिए कभी कभी जीवितम् शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। विद्यानाथ ने जीवित व्यग्यवैभवम और अग्नि पुराण में भी रस एवाम जीवितम् उल्लेख आता है। वस्तुत जीवित और आत्मा समानार्थक शब्द नही हो सकते। उदाहरणार्थ सौंदर्य काव्य का प्राण हो सकता है, आत्मा नही।

साहित्य शास्त्र की प्रथमावस्था में जब काव्य तत्वों की कल्पनाएं स्पष्ट नहीं थीं, बाह्य सुन्दरता को महत्त्व मिला। भामह, दण्डी, उदभट और वामन इन प्रवक्ताओं ने अलकार और रीति का प्रधानतया विचार किया है। अलकारों को किसी ने भी आत्मा नहीं माना है, किन्तु उसे अत्यधिक महत्त्व भामहादि ने दिया है। मम्मट और उसके परवर्ती साहित्यज्ञों ने अलकारों को महत्त्व नहीं दिया। वे निरलकारिक काव्य भी श्रेष्ठ मानने लगे थ। शब्द, अर्थ और गुण इन बाह्याग सुन्दरता से रसिक पाठक को उतना आनन्द प्राप्त नही होगा, जितना काव्य की आत्मा से होगा। अलकारों को ही सामान्यतया वक्रोक्ति से जाना जा सकता है। विदग्ध जन वक्रोक्ति का प्रयोग अधिकतर करते हैं, कारण बोलचाल की साधारण भाषा का उन्हें आकर्षण नहीं रहता अतएव वे वक्रता से अपना अभिप्राय सूचित करते हैं। वक्रता से काव्य आकर्षक बनने के कारण उसे ही काव्य की आत्मा कुछ आचार्य मानते थे। भामह अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति मानता है। वस्तुत शब्द और अर्थ अलकार शरीर के आभूषणो के समान है। वे काव्य शरीर से सम्बन्धित रह सकते हैं, काव्यात्मा में उन्हें स्थान नही मिलेगा। वक्रोक्ति काव्य की आत्मा नही है, उस दृष्टि से उसमे पर्याप्त अपूर्णता है।

'वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहा है। वामन ने ही काव्य की आत्मा

यह शब्दावली रूढ़ थी । वामन ने रीति का अर्थ विशिष्ट प्रकार की पद रचना किया है (—विशिष्टा पद रचना रीति) । अंग्रेजी में इसे Style कहते हैं और आजकल हम उसे शैली कहते हैं । विशिष्ट पद रचना को स्पष्ट इस प्रकार किया जाता है । काव्य में शब्दों की विशेष रचना द्वारा विशेष गुण प्रकट होते हैं । इन शब्दों, अर्थों एवं रचना में माधुर्य प्रसाद अर्थ व्यक्ति इत्यादि अनेक गुण होते हैं । इन गुणों से काव्य रचना होती है और उसके अभाव में वह रचना गद्य होती है । रीति से काव्य को सुन्दरता प्राप्त होती है और उसी सौंदर्य को ही काव्य की आत्मा माना गया । अलकारों पर जो आक्षेप लिये जाते हैं, वे ही रीति पर लिये जा सकते हैं । रीति में क्या कहा है 'इसकी अपेक्षा' किस प्रकार कहा' है इसकी चर्चा आती है । रीति का सम्बन्ध काव्य शरीर से है ।

काव्य की चर्चा में क्षमेन्द्र ने औचित्य को महत्त्व दिया है । उसने औचित्यस्य रससजीवितभूतस्य—औचित्य को रस का जीवित कहा है । योग्य उचित बात ही औचित्य है । अनौचित्य से रसभंग होता है । औचित्य से काव्य को सुन्दरता प्राप्त होती है । औचित्य काव्य का अपरिहार्य और आवश्यक गुण हो सकता है किन्तु वह गुणी नहीं हो सकता । कथन की उचित पद्धति औचित्य में है । रीति पर जो आक्षेप उठाये जाते हैं वे ही औचित्य पर उठाये जा सकते हैं इसी कारण क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त इस तत्व को दूसरों ने महत्त्व नहीं दिया ।

ध्वनिकार काव्यस्य आत्मा ध्वनि कहते हैं । आनन्दवर्धन ने इसका समर्थन किया । काव्य के दो प्रकार के अर्थ होते हैं—वाच्य और सूचित । प्रथम अर्थ समझने के बाद दूसरा उस अनुरणन से समझने वाला अर्थ सूचित है। यही दूसरा अर्थ महाकवियों के काव्यों में निहित होता है वही काव्य की आत्मा है । वाच्यार्थ शरीर, और उसके द्वारा अभिव्यक्त होने वाला ध्वनित अर्थ—उसकी आत्मा है । ध्वनित अर्थ के कारण ही रमणीय लेखन होता है । वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ सूक्ष्म तथैव देश काल सदर्भादि के साथ परिवर्तित रहता है । वाच्यार्थ के अतिरिक्त सूचित (ध्वनित व्यग्य प्रतीयमान) अर्थ से लेखन में रमणीयता निःसंदेह आती है और उसे ध्वनि काव्य कहते हैं । तथापि हरेक कवि के काव्य में ध्वनित अर्थ मिलता नहीं है । उदाहरणार्थ माखनलाल चतुर्वेदी की पुष्प की अभिलाषा कविता पढ़िये । इसमें वाच्यार्थ है, ध्वनित अर्थ नहीं है । यह उत्कृष्ट कविता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि के अभाव में भी सरस काव्य रचना हो सकती है । ध्वनि एक पद्धति है अतएव वह काव्य की आत्मा नहीं हो सकती ।

रस से अर्थ है–भावना । काव्य वाचन से पाठक के मन में विशिष्ट प्रकार की भावना जागृत होती है। उसे कुछ भावनिक अनुभव आते हैं। शृंगार वीर, करुण आदि रस भावना का यह अनुभव होना है। मन में होने वाली यह भावना की जागृति उसे सुखद लगती है। सुन्दर, रमणीय, आकर्षक भावना जागृति शब्दार्थ द्वारा याने काव्य द्वारा होती है। काव्य और ललित साहित्य में भावना चित्रण आवश्यक माना जाता है। शास्त्र और काव्य का भेदक लक्षण रस या भावना है। काव्य का आत्म तत्त्व रस है। विश्वनाथ ने वाक्य रसात्मक काव्य' द्वारा काव्य की आत्मा रस को कहा है। भरत ने भी रस पर पर्याप्त चर्चा नाट्य के सम्बन्ध में की है। 'रस एव वस्तुत आत्मा' कहते हैं।

काव्य की आत्मा सत्य है। इसी को स्पष्ट करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि 'शब्द अर्थ अभिव्यक्ति ये तीनों भाषा के तत्त्व हैं, रस, आनन्द अनुभूति रमणीयता आदि भाव तत्त्व के अन्तर्गत हैं कला, अभिव्यक्ति कौशल आदि कल्पना तत्त्व से संबंध रखते हैं, इन सबको संगठित करके कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करना बुद्धि और विचारतत्त्व का कार्य है। परन्तु इन सब में व्याप्त रहता है सत्य। सत्य की अभिव्यक्ति करके ही काव्य खड़ा रह सकता है। सत्य के कारण ही काव्य का अस्तित्व है और उसका ग्रहण करने की प्रेरणा मिलती है। अतएव काव्य की आत्मा सत्य है।"

यह सत्य वैज्ञानिक या दार्शनिक सत्य से भिन्न हो सकता है क्योंकि सत्य यहाँ सार मात्र नहीं है, वरन् साकार होता है। अपने सांगोपांग रूप में वह अपने समस्त क्रिया कलाप और गतिशीलता के साथ हमारे सामने आता है। वैज्ञानिक जल को केवल H_2O कहेगा किन्तु जल का सुन्दर, स्वच्छ, मधुर शीतल, अमृतसम, सन्तोषप्रद, आतप में प्रताड़ित व्यक्ति को प्रसन्नप्रद ऐसा कवि वर्णन कर कल्पना, मन, अनुभूतिग्राही रूप को हमारे सामने कवि प्रत्यक्ष करता है। सत्य का यह वास्तविक रूप काव्य की आत्मा है और इस आत्मा को साकार शरीर का रूप देनेवाले, शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना और बुद्धि ये पाँच तत्त्व हैं।

प्रकरण ३

कला

मनुष्य के मस्तिष्क में जो सपूर्ण जीव-जगत् का चित्र अंकित हो जाता है, उनके प्रभावों की अभिव्यजना करने वाली विधियो को कला कहते हैं। यहाँ स्मरण रखना होगा कि सम्पूण अभिव्यजना कला नहीं है। मनुष्य की बुद्धि मे यह सामर्थ्य होता है कि वह केवल वस्तुओ का चित्रांकन ही नहीं करती प्रत्युत उनकी मीमांसा उनका श्रेणी विभाग और नियम निर्धारण भी करती है। मनुष्य केवल कलाकार नहीं होता दार्शनिक भी होता है। वस्तुत कला का सम्ब घ नियमो से नही है वह तो रूप की अभिव्यक्ति मात्र है। बाह्य जगत की भिन्न भिन्न वस्तुओ का—एक एक वस्तु का—जसा प्रतिबिम्ब मानस मुकुर पर पडता है कला का सीधा सम्बन्ध उसी से है। वह सदव व्यष्टि से सम्पर्कित रहती है। यद्यपि इतिहास क्षेत्र कला का ही क्षेत्र है, कला की व्याप कता इतिहास की अपेक्षा अधिक है। मनुष्य की अनुभूतियो कल्पनाओ और उसके सम्पूण ज्ञान का एक बहुदश कला का विषय बन सकता है। कला के मूल में भावना शक्ति का प्राधा य है और भावना शक्ति का विश्लेषण करने पर उसमें ज्ञान और इच्छा की शक्तियाँ सम्मिलित देख पडती हैं। यदि भावना शक्ति के साथ ज्ञान शक्ति का समन्वय न होता तो कलाएँ अपने आदि रूप से विकसित होकर वर्तमान उन्नति न प्राप्त करती और यदि भावना शक्ति के साथ इच्छा शक्ति का समन्वय न होता तो कलाओ की उच्छखलता को रोकना असम्भव हो जाता। सम्पूण कला और साहित्य मे मनुष्य के आचार की छाप पडी हुई है। जो देश अथवा जाति जितनी अधिक परिष्कृत तथा सभ्य होगी उसकी कला कृतियाँ भी उतनी ही सुन्दर और सुष्ठु होगी।

कला की व्याख्या

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जी ने कला को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "In art man reveals himself and not his object His objects have their place in books of information and Science अर्थात कला में मनुष्य बाह्य वस्तुओ की नही, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है उसके बाह्य

विषया का वर्णन सूचना प्रधान ग्रन्थों म तथा विज्ञान के ग्रन्था में किया जाता है। उनके अनुसार कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है, न कि सूक्ष्म और विश्लेषण प्रधान वस्तुओं की विवेचना करना। इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि सौंदय विधान कला का एक साधन मात्र है, साध्य नहीं। सौंदय और सत्य दोनों की प्रतिष्ठा कला म आवश्यक है। रस्किन ने कला के सम्बन्ध में कहा है कि कला प्रकृति के सम्पर्क स उद्भूत मानव हृदय में उत्पन्न होने वाली आनन्द की अभिव्यक्ति है। फ्रायड न कला को हृदय की दबी हुई वासनाओ का उभरा हुआ रूप माना है। कला के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण इस प्रकार है—कला अभिव्यंजना का मूर्त रूप है और उसमें दिव्यता होनी चाहिए। कला सत्य की सजीव और स्वाभाविक अनुकृति है।

भारतीय संस्कृत आचार्यों का कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण इससे पृथक् है। संस्कृत साहित्य मे ज्ञान का विभाजन विद्या और उपविद्या इन दो भागो म किया गया है। काव्य को विद्या के अन्तगत और कला को उपविद्या के अन्तगत रखा गया है। भर्तृहरि के श्लोक स काव्य और कला को संस्कृत आचाय भिन्न समझते यह बात स्पष्ट हो जाती है। भर्तृहरि ने लिखा है—

साहित्य संगीत कला विहीन साक्षात् पशुपुच्छ विषाण हीन। दण्डी ने कला को 'नृत्य गीत प्रभृतय कला कामार्थ संश्रया' कह कर साहित्य का कलाओं से भेद स्पष्ट किया। साहित्य अथवा काव्य के सम्बन्ध में भारत म बहुत ऊँची धारणाएँ थी किन्तु कला के काम के उद्दीपन म सहायक कामार्थ सश्रया मानी जाती थी। हमारे यहाँ कला को लोकरंजन का साधन मात्र माना गया किन्तु साहित्य को आत्मा की अभिव्यक्ति मानकर अलौकिक समझा जाता था। कला का आनन्द बहुत कुछ स्थूल और बाह्य कहा जाता था। इसीलिए कला को वस्तु के स्वरूप को सुशोभित करने वाली कहते थे। भारतीय दृष्टिकोण में कला को साहित्य से हेय माना जाता था। भारतीय मनीषी कला को ज्ञान शिल्प और विद्या से भी भिन्न वस्तु मानते थे। संस्कृत में कलाओं को बड़ा संकुचित स्थान मिला है।

(साहित्य) काव्य और कला

आज भारतीय दृष्टिकोण का समथन बहुत कम होता है, जिसम कला को गौण स्थान दिया गया है। अधुना युग म काव्य को भी एक कला माना जाता है। इस मत पर पाश्चात्यों का प्रभाव स्पष्टरूप स लक्षित होता है। काव्य और कला दोनों के मूल म भावना, सौंदय वृत्ति, कल्पना, औचित्य और अभिव्यक्ति की अदम्य कामना होती है। सौन्दय म मुग्ध मानव कभी कभी अपनत्व विस्मृत कर तन्मय हो जाता है और जब इस तन्मयता से जगकर वह अपनी

सौंदर्यानुभूति को सजीव रूप देना चाहता है तब काव्य अथवा कला का उदय होता है। साहित्य न मूर्त कला है, न अमूर्त वह दोनो के बीच की वस्तु है। भवभूति ने कला के सदृश ही साहित्य या वाणी को भी आत्मा की कला कहा है। विन्देम देवताम् वाचममृताम आत्मन कलाम। महादेवी जी ने कहा है—कला जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढती है, अत सम्पूर्ण जीवन को गला पिघलाकर तक सूत्र में परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नही होता।' साहित्य इस कमी को पूरा करता है। दोनो में यही मौलिक अंतर है।

पाश्चात्य आलोचक एडिसन का मत है कि काव्य तथा अन्य सभी ललित कलाएँ हमारी कल्पना शक्ति पर प्रभाव डालती हैं तथापि काव्य कला का अन्य कलाओ की अपेक्षा अधिक गहरा प्रभाव पडता है।

सक्षेप में कला और साहित्य के सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनो में कोई मौलिक भेद नही है, साहित्य कला का एक अंग ही है।

कला के भेद

भारत में कलाओ की सख्या चौंसठ मानी गयी है। बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तार में कलाओं की सख्या छियासी तक पहुंचा दी हैं। क्षेमेन्द्र ने सकडो कलाओ के नाम गिनाए हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृतिक कला तथा मानगत एव अभ्यासगत कला अथवा सामान्य कलाए और सास्कृतिक कलाएँ ऐसा भेद किया है। क्रोचे कला को अखण्ड अभिव्यक्ति मानता है। उसके अनुसार कलाओ का वर्गीकरण नही किया जा सकता। क्रोचे का यह मत समीचीन ही है कि सुविधा के लिए व्यावहारिक दृष्टि से कलाओ में बाह्य भेद स्वीकार कर लिए जाएँ किन्तु तात्विक दृष्टि से कला अखण्ड अभेद्य अभिव्यक्ति है। कला का व्यावहारिक दृष्टि से सर्वमान्य और प्रसिद्ध वर्गीकरण है—उपयोगी और ललित कलाएँ। इस पर हम विवेचन करेंगे—

उपयोगी और ललित कलाएँ

उपयोगी कलाओ का जन्म आवश्यकता के कारण होता है, वे मानव बुद्धि की उत्पत्ति होती हैं ललित कलाओ का जन्म विलास और वैभव के कारण होता है। और उनकी जन्मदायिनी प्रवृत्ति प्रतिभा होती है। यह केवल एक दृष्टिकोण है। इससे उपयोगी और ललित कलाओ के भेद पर कोई प्रकाश नही डाला गया।

उपयोगी कलाएँ

जगत में हरेक वस्तु की अपनी एक उपादेयता होती है। मनुष्य ससार की अनेक वस्तुओ में से कुछ वस्तुओं को अपनी आवश्यकता और उपयुक्तता

की दृष्टि से एक विशेष रूप में ढालने का प्रयत्न करता है। मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए वस्तुओं को विशिष्ट स्वरूप प्रदान कर उपयोग में लाता है सभी उपयोगी कलाओं का विकास होता है। उपयोगी कलाओं की कोई निश्चित सीमा नहीं है। इसीलिए इनके अन्तर्गत वे तमाम कारीगरी के काम आते हैं जिनका हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन में उपयोग रहता है। उपयोगी कला में सुनार, लुहार, जुलाहे, बढ़ई आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। उपयोगी कलाओं का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है।

ललित कलाएँ

ललित कला फाईन आर्ट्स शब्द का अनुवाद है। ललित कलाओं के मूल में सौन्दर्यानुभूति के पुनर्विधान की प्रवृत्ति काम करती हुई दिखाई देती है। ललित कला के प्रमुख पाँच भेद माने जाते हैं-मूर्तकला, चित्रकला संगीत कला, चित्रकला और काव्यकला। ललित कलाओं के द्वारा अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। मनुष्य की सभ्यता की उन्नति के साथ मनुष्य का सौंदर्य ज्ञान भी बढ़ता गया और उसकी मानसिक तृप्ति और विकास के लिए सुन्दरता से युक्त ललित कलाओं का निर्माण होता रहा है।

ललित कलाओं का आधार

ललित कलाओं को दो भागों में विभाजित किया जाता है—नेत्रेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय। वास्तु मूर्ति और चित्र कलाएँ नेत्र द्वारा तृप्ति प्रदान करती हैं और संगीत एवं काव्य कलाएँ कानों के द्वारा तृप्ति प्रदान करती हैं। पहले प्रकार की कलाओं में किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है पर दूसरी में उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ललित कलाओं की उत्तम मध्यम श्रेणियाँ की जाती हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम, वह उतनी ही उच्चकोटि की समझी जाती है। काव्य कला में मूर्त आधार का अभाव होता है अतएव उसे उच्चकोटि की और वास्तु कला को मूर्त आधार की अतिशय आवश्यकता होती है अतएव उसे सबसे निम्न कोटि का समझा जाता है। मूर्तिकला का मूर्त आधार प्रस्तरखण्ड है। चित्र कला का आधार भी मूर्त होता है। संगीत में नाद परिमाण ही उसका आधार है। काव्य कला को मूर्त आधार की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों हम ललित कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है।

ललित कलाओं के आधार तत्त्व

ललित कलाओं के आधार तत्त्व हैं-एक सब कलाओं में किसी न किसी

प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है, दो आँखे और कान द्वारा इन कलाओ का मन से सन्निकर्ष होता है, तीन ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार से माध्यम का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुनने वाले का मन अपने मन के सदृश करता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि मे सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं। अब ललित कलाओ पर हम विचार करेंगे—

वास्तुकला

वास्तुकला का मूत आधार इट पत्थर, लोहा, लकडी सीमेन्ट, आदि हैं, जिनमे इमारत बनाई जाती है। ये सब पदार्थ मूत हैं अतएव उनका प्रभाव मूत पदार्थों के सदृश ही पडता है। वास्तुकला की स्वाभाविक अनुरूपता होने पर मानसिक भावो की प्रतिच्छाया रहती है। धम स्थानो मे भिन्न जातियो के धार्मिक विचारो के अनुसार उनके धार्मिक विश्वासो के निदर्शक कलश, गुम्बज जालिया बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावो का प्रत्यक्षीकरण करता है। प्राचीन काल म भारत म इस कला का सुन्दर विकास हो गया था।

मूर्तिकला—मूर्तिकला मे मत आधार पत्थर धातु मिटटी या लकडी आदि के टुकडे होते हैं, जिन्हे मूर्तिकार काट छाँटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार म परिणत करता है। मूर्ति मे मानसिक भावो का प्रदशन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता स हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर खण्ड या धातु खण्ड म जीवधारियो की प्रतिच्छाया बडी सुगमता से सघटित कर सकता है। इसी कारण मूर्तिकला मे शारीरिक सुन्दरता प्रदर्शित की जाती है। गाधार मथुरा अमरावती ये इस कला के सप्रदाय रहे हैं।

चित्रकला—चित्रकला का आधार कपडे, कागज लकडी आदि हैं, जिस पर चित्रकार अपने ब्रुश की सहायता से भिन्न भिन्न चित्र चित्रित करता है। इसम मूर्तिकार की अपेक्षा मूत आधार कम है। इसी से चित्रकार को अपनी कला की खूबी दिखाने के लिए अधिक कौशल स काम लेना पडता है। मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को कला द्वारा मानसिक सृष्टि करने का अधिक अवसर मिलता है। अजन्ता की चित्रकला प्रसिद्ध है।

सगीत कला—सगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कठ से या कई प्रकार के यत्रो से उत्पन्न करता है। इस नाद का नियम कुछ निश्चित सिद्धातो के अनुसार किया गया है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भाव प्रकट करते है। सगीत का प्रभाव प्राचीन काल से है। सगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है। सगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चचल कर सकता है और उसमे विशेष भावो का उत्पादन कर

सकना है। इस विचार से यह कला वास्तु मूर्ति और चित्र कला से बढ़कर है। प्राचीन काल में गंधर्व और किन्नर इस कला के विशेषज्ञ माने जाते थे।

काव्य कला—काव्य कला शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान आँखों और कानों द्वारा होता है। भाव या मानसिक चित्र के द्वारा कवि दूसरे के मन से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

काव्य कला और अन्य ललित कलाएँ

ललित कलाएँ सौंदर्य की सृष्टि करके श्रोता अथवा दर्शक के हृदय में आनन्द का संचार करती हैं। कविता और संगीत में बहुत साम्य है। मिल्टन ने इन दोनों कलाओं को एक दूसरे की बहिन बताया है। दोनों गतिशील कलाएँ हैं। प्रत्येक पंक्ति के साथ कविता का और स्वर के प्रत्येक आरोह तथा अवरोह के साथ संगीत का प्रभाव आगे बढ़ता है। दोनों लय और गति का उपयोग करते हैं। कविता शब्दों की सहायता से भावों को अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। संगीत जिस भाव को केवल स्वरों के संकेत मात्र से अवगत कराएगा, कविता उसे रूप देकर सामने खड़ा कर देने में समर्थ होती है। संगीत की अपेक्षा कविता का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। संगीत हर्ष करुण आदि भाव, अथवा कुछ मानसिक परिस्थितियों को प्रकट करता है बाह्य जगत का चित्रण नहीं करता। कविता भाव, बाह्य जगत् चित्रण दोनों करती है। संगीत कला का सबसे सूक्ष्म और दार्शनिक रूप है। कविता संगीत की सहायता लेती है।

कला विचारकों ने कविता और चित्र कला को एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने चित्र को रेखाबद्ध कविता और कविता को शब्दों द्वारा चित्रण बताया है। तथापि दोनों में अन्तर है। काव्य गतिशील है चित्र कला स्थायी है। चित्र कला स्थायी होने के कारण समय एवं पल को पदार्थों के केवल एक रूप का अंकित करता है। चित्र कला में केवल पदार्थों का चित्रण हो सकता है। कविता प्रवाह समय से बँधा नहीं रहता। कविता में परिवर्तनशील परिस्थितियों, घटनाओं और क्रियाओं का वर्णन होता है। इस दृष्टि से कविता क्षेत्र चित्र कला से विस्तृत है।

मूर्तिकला और वास्तुकला दोनों का प्रभाव रूप संघटन पर निर्भर है। कवि, मूर्तिकार और वास्तुकार सुडौलता और सामंजस्य का ध्यान रखते हैं। कविता का बाह्य रूप सौष्ठव मूर्ति कला और वास्तु कला के जो आधार हैं– उन सिद्धान्तों पर ही अवस्थित है।

काव्य कला की श्रेष्ठता —डॉ० श्याम सुन्दर दास जी ने काव्य कला की श्रेष्ठता स्पष्ट करते हुए लिखा है कि काव्य को हम मानव जाति के अनुभवों, कार्यों अथवा उसकी अनुभूतियों की समष्टि कह सकते हैं। काव्य जाति विशेष का मस्तिष्क या अंतःकरण है, जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी की सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। साहित्य के बिना, पूर्व संचित ज्ञान भांडार के बिना मानव जीवन, पशु जीवन के समान होता है। साहित्य मानव संस्कृति की अक्षय निधि है। मानव संस्कृति तथा उन्नति के लिए काव्य अतिशय उपादेय है।

प्रकरण ४

काव्य के भेद

काव्य के प्रधानतया तीन भेद किये जाते हैं गद्य पद्य और चम्पू। इनके और भी उपभेद किए जाते हैं। आगामी पृष्ठों मे हम उन पर विचार करेंगे।

गद्य-पद्य-चम्पू

गद्य पद्य चम्पू—प्राचीन आचार्यों ने काव्य के दो भेद किए हैं—(१) श्रव्य (२) दृश्य, जिसे कानों से सुनकर आनन्द की प्राप्ति हो वह श्रव्य काव्य, और जिस काव्य को अभिनीत देखकर आनन्द मिलता हो वह दृश्य काव्य। प्राचीन काल में मुद्रण कला के अभाव मे रसिकों को काव्य रसास्वादन सुन-सुनाकर करना पड़ता था। अतएव श्रव्य काव्य नाम रखा होगा।

श्रव्य काव्य के आकार के आधार पर तीन मुख्य भेद किए गए हैं—गद्य पद्य और चम्पू। कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है तथापि व्यावहारिक सुविधा के लिए स्थूल रूप में उपरिउल्लिखित तीन भेद किए हैं। गद्य का सम्बन्ध साधारण जन की बोलचाल से रहता है। गद्य में यति आदि के नियम नहीं रहते थे। पद्य में नृत्य सी गति रहती है। गद्य में प्राय बुद्धितत्व की प्रधानता रहती है, जब कि पद्य मे भावतत्व की। भावों की प्रधानता के फलस्वरूप पद्य में गद्य की अपेक्षा संगीतात्मकता की प्रधानता रहती है। ताल, लय और छन्द का बन्धन आधुनिक स्वच्छन्द कविताओं तक पाया जाता है। कभी कभी गद्य भी ताल, लय, अलंकार इत्यादि सामग्री से युक्त होकर अत्यन्त चित्ताकर्षक और रसपूर्ण दशा में उत्कृष्ट पद्य के सदृश बन जाता है और अनेक स्थलों पर छन्द एवं ताल से युक्त पद्य भी भाव तथा रस के अभाव में गद्य बन जाता है। बाणभट्ट की कादम्बरी गद्य होते हुए भी पद्य की सीमाओं को छूती है, और द्विवेदीकालीन अधिकांश कविताएँ रसहीन छंदोबद्ध गद्य के सदृश दिखाई देती हैं। भावों की प्रधानता के कारण पद्य में एक स्वाभाविक प्रवाह, गति और शक्ति आ जाती है जो गद्य में नहीं मिलती

गद्य पद्य मिश्रित रचना को चम्पू काव्य कहते हैं।

अब गद्य पद्य के उपविभेदों पर विचार करेंगे। प्रथमतः पद्य पर विचार करेंगे, पद्य काव्य के दो भेद किए हैं—(१) प्रबन्ध (२) निबन्ध या मुक्तक

प्रबन्ध काव्य के चार भेद हैं—पुराण, आख्यान, महाकाव्य खण्डकाव्य

पुराण काव्य

काव्य मीमांसाकार ने पुराण काव्य के सम्बन्ध में लिखा है जिसके अन्तर्गत विभिन्न सर्गों और खण्डों में सृष्टि के प्रारम्भ और विकास की युग युगान्तर व्यापी कहानी कही गई हो वह पुराण है । पुराण महाप्रबन्ध काव्य है । पुराण में अनेक खण्ड और प्रत्येक खण्ड में अनेक अध्याय होते हैं । पुराण में मंगलाचरण से कथा प्रारम्भ होती है और प्रत्येक अध्याय के उपसंहार में प्रसंग का निर्देश रहता है । पुराण का विकास किसी के प्रश्न के उत्तर में या शंकानिवारण के रूप में विविध आख्यानों के द्वारा होता है । प्रायः आख्यान प्रतिपाद्य सिद्धान्त की पुष्टि और दवी ऐश्वर्य की महत्ता का चित्रण करते हैं । पुराण के बीच में वर्णन वार्तालाप के रूप में होता है, किन्तु उसमें किसी भाव वस्तु तथ्य या सिद्धान्त का विस्तार से साथ प्रतिपादन नहीं होता है । पुराण के पात्र प्रायः प्रागैतिहासिक शिव, विष्णु, वामन आदि होते हैं । पात्रों की अलौकिक शक्ति आश्चर्यजनक दृश्यों का वर्णन बड़ा ही रोचक होता है । भारतीय साहित्य में ब्रह्मपुराण विष्णुपुराण शिवपुराण श्रीमद्भागवत गरुणपुराण आदि अठारह पुराण माने गए हैं और नारदी कपिल पराशर आदि अठारह उपपुराण माने गये हैं ।

आख्यान-काव्य

आख्यान काव्य में भक्ति, नीति, प्रेम आदि के निरूपण के लिए काल्पनिक रोचक कथानक का मधुर शैली में वर्णन होता है । आख्यान प्रामाणिक लगे इसीलिए अनेक ऐतिहासिक स्थानों और नामों का समावेश भी उसमें लेखक करता है । इसमें एक प्रधान कथा और अन्य कुछ गौण कथाएँ होती हैं । इसके प्रमुख भेद प्रेमाख्यान, साहसिक आख्यान आदि हैं ।

खण्डकाव्य

भारतीय साहित्य में महाकाव्य सम्बन्धी जितना विशद विवरण मिलता है उतना खण्डकाव्य के सम्बन्ध में नहीं मिलता । खण्डकाव्य वृहद् जीवन का वर्णन नहीं करता बल्कि जीवन के एक अंश जीवन की एक मर्मस्पर्शी घटना या दृश्य का मार्मिक उद्घाटन करता है । प० विश्वनाथ ने खण्ड काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है —

वस्तु घटना प्राधान्यात् खण्डका यमिति स्मृतम् ।

अर्थात् खण्डकाव्य वह है जो किसी घटना विशेष को लेकर लिखा गया हो । खण्ड का 'खण्डका य मवेत्काव्य स्यक देशानुसारि च । लक्षण दिया

जाता है। अर्थात काव्य के एक देश, एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्ड काव्य है। इसमें कथा संगठन के लिए सम्बद्धता आवश्यक नहीं है। इसमें कथावस्तु विस्तृत नहीं होती। चरित्रचित्रण, भाववर्णन इसमें होता है।

खण्ड काव्य के दो भेद हैं–(१) सधान अथवा एकार्थ खण्ड (२) अनेकार्थ खण्डकाव्य। प्रथम में एक प्रकार के छंद में ही एक घटना या दृश्य का वर्णन किया जाता है। द्वितीय में अनेक प्रकार के छंदों में विविध भावों के साथ जीवन के एक अंग का चित्रण होता है। संस्कृत और हिंदी में अनेक खण्डकाव्य प्रसिद्ध हैं। संस्कृत का मेघदूत खण्डकाव्य प्रख्यात है। हिंदी के भी पार्वती मंगल पंचवटी, यशोधरा, जयद्रथ वध मौर्यविजय, पथिक, मिलन, स्वप्न, निराला का तुलसीदास आदि प्रसिद्ध खण्डकाव्य हैं।

महाकाव्य भारतीय दृष्टिकोण

महाकाव्य के संबंध में पर्याप्त विवेचन संस्कृत के आचार्यों ने किया है। इस को सात विभागों में विभाजित कर देखा जा सकता है—कथावस्तु, नायक रस, छंद वर्णन नाम उद्देश्य।

कथावस्तु—कथा का प्रारम्भ आशीर्वचन, मंगलाचरण, स्तुति से होता है। और यह प्रारम्भ संस्कृत से ही किया जाता है उसमें तद्भव और तत्सम प्राकृतों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। कभी कभी दुष्टों की निंदा और सज्जनों की गुण प्रशंसा भी होती है। महाकाव्य की कथा आठ सर्गों में और तीस सर्गों से अधिक सर्गों में कथन नहीं होना चाहिये। महाकाव्य वस्तुतः सर्गबद्ध रचना है ये सर्ग विभिन्न वृत्तांत वाले एवं विस्तृत होते हैं। सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना भी रहनी चाहिए। सर्ग न छोटे होने चाहिये और न बड़े होने चाहिए। नाटकों की संधियाँ आदि की योजना यथास्थान होना चाहिए। महाकाव्य का कथा पूर्ण जीवन-गाथा होता है। महाकाव्य की प्रमुख कथावस्तु का प्राण कोई घटना होना चाहिए। सम्पूर्ण कथा उसी घटना के विस्तार रूप में वर्णित की जानी चाहिए। महाकाव्य में नियोजित छोटी छोटी घटनाएँ मूल घटना की पोषिका हों। महाकाव्य में नियोजित अन्तकथाएँ भी मुख्य कथा को उभार लाने में सहायक होनी चाहिए। कथावस्तु उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और मिश्र तीनों प्रकार की होती है किन्तु महाकाव्यों में अधिकतर अनुत्पाद्य और मिश्र कथाओं की ही योजना की जाती है।

नायक—महाकाव्य का नायक कोई देवता अथवा धीरोदात्त, उच्चकुल में उत्पन्न कोई क्षत्रिय अथवा एक वंश में उत्पन्न हुए राजा और अनेक वंश में उत्पन्न राजा हो सकते हैं अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन्हीं तीन जातियों

में किसी जाति का होना चाहिए किन्तु उसमें धीरोदात्त गुण का होना आवश्यक है। महाकाव्य में नायक के साथ प्रतिनायक भी होना चाहिये।

रस—महाकाव्यों में सभी रसों का वर्णन आवश्यक है। भारतीय दृष्टि से महाकाव्य में शृंगार, वीर, करुणा आदि में से कोई रस प्रधान रूप में होना चाहिए और शेष रस उसके अंग बनकर नियोजित किए जाने चाहिए। घटना प्रवाह, वस्तु व्यापार योजना और भाव व्यंजना रसनिष्पत्ति के बिना नीरस रहते हैं।

छन्द—दण्डी के मतानुसार प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिये। और सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन भी रहना चाहिए। विश्वनाथ ने एक ही सर्ग में अनेक छंदों के प्रयोग को मान्यता दी है।

वर्णन—भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य में विविध प्रकार के चित्रणों का होना आवश्यक माना है। महाकाव्य में नगर, वन, पर्वत चन्द्र, सूर्य आश्रम वृक्ष उपवन जलक्रीडा उत्सव-प्रकृति के विभिन्न दृश्यों और रूपों का होना चाहिए। प्रकृति वर्णन के साथ ही महाकाव्यों में प्रेम विवाह, मिलन, कुमारोत्पत्ति आदि घटनाओं के नियोजन को भी आवश्यक बताया है।

नाम—महाकाव्य का नाम कवि नायक या कथा तत्व के आधार पर होता है जिसके द्वारा या तो नायक या कवि या मुख्य घटना अथवा प्रतिपाद्य का ज्ञान हो सके। ख्यातवृत्त होने के कारण उसके सम्बन्ध में भाव हमारे भीतर पहले ही बने होते हैं जो वर्णन के द्वारा जाग्रत हो जाते हैं।

उद्देश्य—महाकाव्य का उद्देश्य धर्म अर्थ, काम और मोक्ष माना गया है।

महाकाव्य के भेद—चार हैं—

१ रीतिमुक्त महाकाव्य उदा० अश्वघोष और कालिदास काल के महाकाव्य।

२ रीतिबद्ध महाकाव्य नैषधीय चरित। शिशुपाल वध आदि।

३ श्लिष्ट महाकाव्य श्लेष के बल पर कथाएँ वर्णित की जाती हैं राघव पाण्डवीय।

४ रीतिनियमों की उपेक्षा करने वाला महाकाव्य उदा० हरविजय।

डा० शम्भूनाथ सिंह ने अपने शोध प्रबन्ध—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास में पौराणिक शैली, ऐतिहासिक शैली और रोमांचक शैली के महाकाव्य माने हैं।

भारतवर्ष में विकास शील महाकाव्य (महाभारत) और कलात्मक महाकाव्य (शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय) ऐसे दो प्रकार भी माने गये हैं।

उपरि उल्लिखित महाकाव्य के लक्षणों का विवेचन अग्निपुराण ने, भामह ने

रूद्रट ने, दण्डी ने, विद्यानाथ न, हेमचन्द्र ने साहित्यदर्पणकार आदि ने किया है। महाकाव्य अथवा प्रबन्ध काव्य विषय प्रधान और मुक्तक काव्य व्यक्ति प्रधान होता है। प्रबन्ध काव्य सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य धारणाओं म आश्चर्यजनक समानता है। इसका कारण यह हो सकता है कि समस्त सभ्य ससार म महाकाव्यो की दीर्घकालीन परम्परा चली आयी है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

महाकाव्य और त्रासदी पर (Tragedy) पाश्चात्य विचारको ने भारतीय आचार्यों के समान ही पर्याप्त विवेचना की है। अरस्तू, लूजन, होरेस, टैसो सी एम वावरा, हीगेल आदि के मत इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। पाश्चात्य विद्वानो का महाकाव्य का दृष्टिकोण यहाँ सक्षेप मे प्रस्तुत किया जाता है—

कथानक—महाकाव्य का कथानक इतिहास स लिये जाने पर भी शुद्ध ऐतिहासिक रचनाओ स भिन्न होता है, कारण काल्पनिक घटनाओ का भी उसमे समावेश हो सकता है। उसम यथार्थ जीवन स अधिक श्रेष्ठ जीवन का चित्रण होता है। उसकी कथावस्तु व्यापक होती है महाकाव्य और त्रासदी मे आकार और छन्द का भेद होता है। महाकाव्य का प्रभावान्विति अनिवार्य गुण है। महाकाव्य का शरीर जीवित प्राणी की तरह सुसघटित होना चाहिए जिसमें आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट हो। अवान्तर कथाएँ प्रधान कथा की पोषिका हों। सारांश महाकाव्य मे विविधता और व्यापकता होने हुए भी एकान्विति उसका प्राणतत्व है। सम्भाव्यता की परिधि महाकाव्य म त्रासदी की अपेक्षा अधिक हो जाती है क्योकि उसमें अतिप्राकृत तत्त्व क लिए भी अवकाश रहता है। महाकाव्य म असम्भव और अविश्वसनीय बातों और घटनाओ का वर्णन पाठक के कुतूहलवर्धन के लिए किया जाता है। असम्भव न खटके इसीलिए शली द्वारा अभिन्न सौन्दर्य सृष्टि की कल्पना की है। महाकाव्य मे समग्र जीवन का, उसके विविध रूपो और पक्षा का चित्रण होना चाहिए।

पात्र—महाकाव्य मे उच्चतर श्रेणि के पात्रो की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है। अर्थात महाकाव्य के पात्र भद्र कुलीन, वभवशाली, उदात्त, मानवी गुण दोषो स युक्त होने चाहिए। महाकाव्य का नायक वास्तविक परम्परागत अथवा आदर्श होना चाहिए। नायक को इतिहास का सुविख्यात व्यक्ति होना चाहिए। नायक के कार्य ऐसे होने चाहिए जिनकी सभी लोग प्रशसा करें।

वर्णन—महाकाव्य की शैली समाख्यानक होनी चाहिए। अरस्तू नाटकीय शैली को महाकाव्य के लिए अधिक उपयुक्त मानते हैं। समाख्यानक शैली शीघ्र ही एक रसता उत्पन्न कर देती है और नाटकीय शैली दृश्यात्मक के साथ साथ पात्रों

क्त्यत्तित्व से उत्पन्न सहज वचित्र्य का समावेश करती है। वस्तुत दोनों शलियाँ महाका य के लिए उपयुक्त है।

भाषाशली—अरस्तू गरिमा और प्रसाद गुणो को महाका य की शली के लिए आवश्यक मानते हैं। गरिमा लाने के लिए असामा य श द प्रयोग, वाक्य रचना और मुहावरो के प्रयोग को वाछनीय माना जाता है। सक्षप म शली अलकृत होने हुए भी सहज होनी चाहिए।

छन्द—महाकाव्य आदि से अत तक एक लम्बा कथात्मक का य है। उसम आदि से अत तक एक ही छ द षट्पदी (Hexametre) का प्रयोग होना चाहिए। कुछ विद्वानो का विचार है कि एपिक म वीर छन्द (Heroic metre) का प्रयोग होना चाहिए। किसी अ य छ द म या अनेक छन्दो मे समा यानक का य लिखे तो वह असगत होगा। कई वृत्तो का मिश्रण कर देना भी अयुक्त है। अनेक छ दो के मिश्रण मे का य प्रवाह खडित हो जाता है और महाका य की गरिमा को आघात पहुचता है।

उद्देश्य—उद्देश्य के सम्बन्ध म विद्वानो म मतभेद हैं। अरस्तू ने महाकाव्य का प्रयोजन मनोवगो का विवेचन और तज्जन्य शाति बताया है। कुछ विद्वान इसका उद्देश्य नतिक और धार्मिक मानते हैं अरिस्टाटल सत्य का उद्घाटन और आनन्द मानता है।

महाकाव्य और खण्डकाव्य

महाका य म समग्र जीवन का उद्घाटन होता है और खण्डकाव्य मे जीवन के एक अग का पक्ष का उद्घाटन होता है। खडकाव्य म महाका य के कुछ लक्षण सकुचित रूप म स्वीकार किए जाते हैं। रूप और आकार म खण्डकाव्य महाकाव्य स छोटा होता है। खण्डकाव्य म प्रभावान्विति वणन प्रवाह की ओर ध्यान दना ही पडता है। खण्डकाव्य का नायक उच्चकोटि का होना चाहिए ऐसा नियम नहा है–उदा० मघदूत का यक्ष अथवा पथिक का नायक, किन्तु महाकाव्य का नायक उदात्त अभिजात होना चाहिए। महाकाव्य म शृगार वीर और शात इनम स एक को प्राधा य देने का नियम है और अ य रस अगी क रूप म आते हैं। खण्डकाव्य म एसा कोई नियम नहा है। खण्डकाव्य म कभी-कभी किसी रस विशष का परिपाक भी नहीं दिखलाया जाता। महाकाव्य सगबद्ध रचना है खण्डकाव्य में सर्गों का बन्धन नहीं है। महाकाव्य म प्रत्यक सग म एक छन्द होता है और सग क अन्त म छन्द परिवतन होना आवश्यक समझा जाता है खण्डकाव्य म एसा कोई नियम नहा है। खण्डकाव्य म महाकाव्य की अपेक्षा अभिनयता की मात्रा अधिक रहती है। महाकाव्य म वस्तु विन्यास नाटकीय सधियों क अनुसार होता है खण्डकाव्य म एसा नही

होता। महाकाव्य के प्रारम्भ म मंगलाचरण आशीवचन, सज्जनों की प्रशंसा खलों की निंदा होती है खण्डकाव्य म इसके लिए अवकाश नहीं रहता। महाकाव्य में सूर्योदय, मगया युद्ध, विवाह आदि अनेक आनुषंगिक वस्तुओं और प्रसंगों के वणन मिलते हैं। खण्डकाव्य म ऐसे वणनों को स्थान नहीं रहता, क्वचित प्रसंग म प्राकृतिक वणन किया जाता है। खण्डकाव्य म अवान्तर कथाओं और घटनाओं आदि का परित्याग किया जाता है। महाकाव्य के समान पात्रों का बहुत चित्रण खण्डकाव्य म नहीं मिलता, बल्कि पात्रों की किसी चारित्रिक विशेषता अथवा पहलू का उदघाटन होता है। महाकाव्य और खण्डकाव्य लक्ष्य समान धम अथ, काम, मोक्ष चतुवग की प्राप्ति होना है, उसी प्रकार नामकरण भी नायक, नायिका अथवा इतिवृत्त के आधार पर होता है।

निबंध या मुक्तक (अनिबद्ध)

मुक्तक म प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती बल्कि इसम केवल रस के छींटे पडत हैं। प्रबन्ध वनस्थली सा है, तो मुक्तक गुल्दस्ता सा है। इसमे पूण जीवन की झांकी नहीं मिलती बल्कि एकाध रमणीक खण्ड-दृश्य की झांकी होती है। इसे कवि अत्यंत संक्षिप्त और समस्त भाषा मे प्रदर्शित करता है। अभिनव गुप्त ने पूर्वापर प्रसंग से मुक्त हो रस प्रदान करने वाली काव्यविधा को मुक्तक माना है। मुक्तक अल्पाक्षर, बहुवर्षक स्वयं पूण तथा विलक्षण विस्मयानन्द देने वाला लघुकाव्य प्रकार है। मुक्तक विषयगत होता है प्रगीत भावगत। मुक्तक म मन की किसी एक अनुभूति भाव या कल्पना का चित्रण किया जाता है। उसम प्रत्येक कथानक अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है और बिना किसी पूर्वापर प्रसंग के अथ को प्रकट कर देता है। मुक्तक का आकार लघु होता है और सीमित विस्तार होता है। उसका स्वतंत्र, अनिरुद्ध अनालिंगित अस्तित्व होकर उसम रसों मय की क्षमता, माधुय संगीत तत्त्व विद्यमान रहते हैं। मुक्तक के मुक्तक युग्मक सन्दानितक विशेषक कलापक कुलक, कोष प्रघट्टक, विकणक संघात आदि भेद माने जाते हैं। ये छन्दों पर आधारित हैं।

मुक्तकों के दो भेद—पाठ्य और गेय हैं। पाठ्य मुक्तक में प्रायः शृंगार विषयक नीतिपरक सूक्तिपरक और कभी कभी वीरता विषयक भी दिखाई पड़ते हैं। रहीम वृन्द के नीतिपरक दोहे तुलसी की भक्तिपरक रामायण बिहारी सतसई तथा विनयावली मुक्तक माने जाते हैं।

गेय—गेय मुक्तक को गीतकाव्य गीतिकाव्य प्रगीतकाव्य अथवा अंग्रेजी में लिरिक पोएट्री कहते हैं। प्राचीन यूनान म मुक्तककाव्य का स्थान था। नवीन अथवा प्रणय, विवाह सम्बन्धी गीत मुक्तक थे। इनमें ...

रहती है। किन्तु कभी गायन का रूप ग्रहण करती थी और कभी नाटक पाठ का।

प्रगीत (गीतिकाव्य)

गेय मुक्तक प्रगीत काव्य कहलाता है। इसमें कवि की अनुभूतियों की अथवा आत्माभिव्यक्ति व्यक्तिनिष्ठता की प्रधानता होती है। इसके गुण हैं राग तत्व आदि का सहज बोध। गीतिकाव्य में एक घटना एक परिस्थिति एक अनुभूति का—आत्मानुभूति का वर्णन होता है। इसमें भावों की और विचारों की एकरूपता रहती है। इसके लिए किसी पूर्वापर सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। अभिव्यक्ति तथा भाव एक गेय लय द्वारा गीत को रोचक एवं सरस बनाया जाता है। गीतिकाव्य का आकार गीतिकाव्य हमारी अनुभूति कल्पना को रसप्लावित कर देता है। गीतिकाव्य में कोमल भावनाओं और अनुभूतियों का प्रवाह बना रहता है जो पाठक के मन को आप्लावित कर देता है जिससे पाठक भाव विभोरता की अवस्था प्राप्त करता है। गीतिकार को अपनी छोटी सी रचना में भावों को पाठक के मन में प्रस्तुत करना पड़ता है। इसके लिए छन्द और बिम्ब विधान का कल्पनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। वह सांकेतिक ध्वन्यात्मक प्रतीकात्मक एवं रूपकात्मक शैली का आश्रय लेकर गागर में सागर भर देता है। गीतिकाव्य में संक्षिप्तता का होना आवश्यक है। भावों की तल्लीनता और बिम्ब तथा विषय और भावों का सामंजस्य गीतिकाव्य के प्रभावोत्पादकता और पूर्णता के लिए आवश्यक है।

गीतिकाव्य संसार में काव्य का सबसे प्राचीन रूप माना जाता है। वेदों का भी हमारे देश में गान होता था। ऋषियों ने उसे सामवेद नाम से सम्बोधित किया है। गीत शब्द का अर्थ है—जो गाया जाय वह। बौद्धगाथा में गीतिकाव्य के दर्शन होते हैं। जयदेव का गीतगोविन्द तो प्रसिद्ध ही है। विद्यापति, सूरदास, कबीर, तुलसीदास, मीरा के गीत भी प्रसिद्ध हैं।

प्रगीत (गीतिकाव्य) का वर्गीकरण

गीतों का विभाजन कई दृष्टियों से किया जाता है—आकार, छन्द, विषय आदि। वर्ण्य विषय के आधार पर गीतिकाव्य का विभाजन निम्नलिखित रीति से हो सकता है। वीरगीत, प्रेमगीत, धार्मिकगीत, व्यंग्यगीत, करुणगीत, सामाजिकगीत, नृत्यगीत, उपालम्भगीत, गीतिनाट्य, सम्बोधगीत, सॉनेट चतुर्दशपदी, अन्य गीत।

वीरगीत—किसी वीर के चरित्र को आधार बनाकर ये गीत गाए जाते

हैं। इसमें कथा और संगीत का मिश्रण रहता है। इन गीतों की भाषा प्रसाद और ओज गुणों से सम्पन्न होती है। इन गीतों में कथा का अधिक प्राधान्य रहता है। वीरगति (Ballads) वीर पूजन की प्रवृत्ति को लेकर लिखे गये हैं। वीरगीतों का इतिहास प्राचीन है। रामायण महाभारत, इलियड, ओडेसी आदि प्राचीन महाकाव्यों का विकास वीरगीतों से हुआ है। आल्हाखण्ड वीर गीतों का ही संग्रह है। मराठी के 'पोवाड़ा (Ballads) नामक काव्य का वीर गीतों में ही समावेश होता है। शिवाजी के पराक्रम के अनेक पोवाड़े मराठी में उपलब्ध हैं।

प्रेम गीत-प्रेम के विरह और मिलन दोनों ही पक्ष के गीत प्राचीनकाल से मिलते हैं। विद्यापति, जयदेव, सूरदास, रसखान, देव, आधुनिक युग में पंत, निराला बच्चन आदि कवियों ने उत्कृष्ट प्रेमगीत लिखे हैं।

धार्मिक गीत—उत्सवों या संस्कारों के समय अनेक धार्मिक गीत गाये जाते हैं। विवाह पूजा, यज्ञ, उत्सव आदि प्रसंगों के उपलक्ष्य में अनेक गीतों की सृष्टि होती है।

व्यंग्य गीत—व्यंग्यगीत को अंग्रेजी में सटायर Satire कहते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य है व्यक्ति विशेष अथवा समाज या मानव जाति की त्रुटियों पर प्रहार करना। यह शिष्ट निश्छल मीठे व्यंग्य से लेकर निमम तथा विघातक उपहास के बीच कई रूपों में पाया जाता है। व्यक्तिगत शत्रुओं तथा सामाजिक एवं समस्त मानवता के विरोधी तत्वों को व्यंग्य द्वारा दमन करने की प्रथा प्राचीन तथा सर्वदेशीय है। सटायर सभ्य तथा विकसित समाज की देन है। सटायर चमकती हुई तलवार की धार के समान होना चाहिये जिससे बुराई का सिर अलग हो जाय किंतु घाव का चिह्न भी प्रत्यक्ष न हो। यह विशम्य व्यंग्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शैली में लिखा जा सकता है। पोप का ऐटिकस (Atticus) ममस्पर्शी व्यंग्य के लिये प्रसिद्ध है। निम्नकोटि का सटायर जिसमें व्यक्ति विशेष के विरुद्ध द्वेष होता है गालीगलौज होता है, उसे लैम्पून (Lampoon) कहते हैं। हिंदी में निराला कुकुरमुत्ता व्यंग्यगीत का उदाहरण है।

करुण गीत—इसे शोकगीत अथवा Elegy कहा जाता है। शोकगीत साधारणतया किसी मित्र या प्रियजन की मृत्यु-जनित शोक का उद्गार होता है परन्तु जब वह व्यक्ति राष्ट्र या समाज का कोई माननीय पात्र होता है तब शैली गंभीर तथा जटिल होती है। ग्रीक में विशेष प्रकार के छन्द विधान को ही इलेजी कहा जाने लगा था। अंग्रेजी का एक विशिष्ट भेद पस्टोरल एलजी कहलाता है जिसमें गडरिये के छद्मवेष में किसी काल कवलित व्यक्ति के प्रति शोक तथा क्षोभ व्यक्त किया जाता है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में

कविता का वर्गीकरण एक भाग म नही मिलता । इसम करुण रस की प्रधानता होती है । भाव तथा हार्दिक सहानुभूति रस के आवश्यक अग हैं । हिन्दी मे शोकगीतो का प्रचलन अग्रजी साहित्य के प्रभाव से हुआ । गाधीजी, तिलक आदि नेताओ पर लिखे गये शोकगीत प्रसिद्ध हैं ।

सामाजिक गीत—सामाजिक गीता म समाज की रूढियाँ पद्धतियाँ रीति रस्म प्रथाएँ इनका खडन अथवा मडन होता है । कुप्रथाओ पर प्रबल आघात किए जाते हैं और समाज सुधार सम्बन्धी कामना अभिव्यक्त की जाती है ।

नृत्य गीत—नृत्यगीतो का विकास लोकगीतो (Foin songs) के रूप म हुआ है । नृत्यगीत प्राय सामूहिक रूप स गाये जाते हैं । हिन्दी म इन गीतो का अभाव है ।

उपालम्भ गीत—प्रिय की उपेक्षा भाव हृदय को सतप्त कर देता है, और विरह मे प्रिय की निष्ठुरता का स्मरण आता है, तब उपालम्भ गीतो की सजना होती है । उपालम्भ मे पीडा व्यथा विवाद और व्यग्य भाव को स्थान मिलता है । उपालम्भ गीतो म प्रिय को दोष देने की प्रवत्ति है, किन्तु प्रिय का द्वेष अथवा प्रतिशोध लेने की प्रवत्ति नही होती । सूरदास का भ्रमर गीत हिदी साहित्य म मानो उपालम्भ का य ही है । यह भ्रमरगीत अपनी मार्मिकता के कारण बडा ही विख्यात है ।

गीतिनाट्य गीत (Dramatic Lyric)—गीतिनाट्य नाटकीय प्रणाली अपनाता है, जिससे रोचकता बढती है । कवि का आत्मगोपन इसम वाछित रहता है और कल्पित पात्र के हृदयगत भाव और अनुभव काव्य के केन्द्र बिन्दु होते हैं । विद्वानो के मतानुसार इसका प्राचीनतम रूप बैलेड है (Balled) । यह नाटक गीतिका व और नाट्य का मिश्रित रूप है । प्रसादजी का 'महाराणा का महत्त्व', निराला का पचवटी प्रसग उदयशकर का मत्स्यगधा भगवतीचरण वर्मा का तारा' उल्लखनीय गीति-नाट्य हैं ।

सबोधन गीत (Ode)—सबोधनगीत किसी को सबोधित होते हैं और इसम सबधित वस्तुओ के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है । ओड नियमित और अनियमित दोनों रूपो मे पाया जाता है । अग्रेजी म ओड टु नाइटिंगेल ओड टु द वेस्ट वींड आदि अनेक सुदर और प्रसिद्ध सबोधनगीत हैं । अग्रेजी क प्रभाव से हिन्दी म सबोधनगीतो की रचना हुई । पत की 'छाया निराला का यमुना के प्रति सुदर सबोधनगीत है ।

सॉनेट—(चतुर्दशपदी) अग्रजी तथा यूरोप की अ य भाषाओ मे यह काव्य रूप लोकप्रिय रहा है । सानेट के जनक अग्रजी कवि पट्राक हैं । अग्रजी म सॉनेट के कई भेद हो गए है ।—पट्राक सॉनेट शेक्सपियरीन सॉनेट, मिल्टन सॉनेट । सॉनेट म चौदह पक्तियाँ होती हैं इसीलिए उसे चतुर्दशपदी कहते हैं ।

सामान्यतया सॉनेट के दो खड होते हैं—प्रथमखड आठ पक्तियो का और दूसरा छ पक्तियो का। प्रथम में कथन होता है और दूसरे में व्याख्या। हिन्दी मे निराला आदि ने सॉनेट लिखे हैं किन्तु यह काव्यरूप हिन्दी मे कम मात्रा में प्राप्त होता है।

ये सारे कलात्मक अथवा साहित्यिक गीत हैं।

लोकगीत—सामाजिक जीवन के विविध सस्कारो, क्रिया व्यापारों, उत्सवो, त्योहारो, ऋतुओ आदि के अवसर पर लोकगीत गाए जाते हैं। इनके लेखक अज्ञात कवि होते हैं। यह काव्य का प्रकृत और सहज रूप है। इन गीतो मे मानव जीवन के सुख दुख, हर्ष उल्लास, वासना प्रेम, आशा निराशा प्रकट होती है। इन गीतो की शैली अकृत्रिम होकर सर्वथा स्वतन्त्र होती है। लोक गीतों में स्त्रैणभावना अधिक होती है जबकि साहित्यिक गीतों में पौरुष की। लोकगीत सामाजिक जीवन के सन्निकट होने की वजह से उनका प्रभाव क्षेत्र व्यापक होता है। आज लोकगीतो के कई सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। प० रामनरेश त्रिपाठी देवेन्द्र सत्यार्थी कृष्णानन्द गुप्त, नरोत्तदास स्वामी, श्याम परमार आदि ने लोकगीता के सग्रह पर काफी परिश्रम उठाए हैं।

प्रकरण ५

गद्यकाव्य (गद्यगीत)

पिछले कुछ वर्षों में गद्य काव्य विकसित हुआ है। कुछ समालोचक गद्य काव्य को निबन्ध के अन्तर्गत रखते हैं किन्तु उसमें भाव और अनुभूति का आधिक्य होने के कारण उस साहित्य को एक स्वतन्त्र विधा मानना अधिक समीचीन होगा।

प्राचीनकाल में काव्य के इस रूप पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था अतएव इसकी विस्तार के साथ मीमांसा प्राप्त नहीं होती है। प्राचीनकाल में कथा आख्यायिका आदि को गद्यकाव्य कहते थे। डॉ॰ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के अनुसार 'जो गद्य कविता की तरह रमणीय, सरस, अनुभूतिमूलक और कल्पना प्रधान हो, साथ ही साथ उसकी अभिव्यञ्जना प्रणाली छन्दयुक्त लय युक्त धारा हो, उसे गद्यकाव्य कहना चाहिए।' डॉ॰ भगीरथ मिश्रजी के अनुसार 'किसी कथानक, चरित्र या विचार को, कल्पना और अनुभूति के माध्यम से गद्य में सरस, रोचक और रमणीय अभिव्यक्ति गद्यकाव्य है।' यह छन्द मुक्त व्याकरण सम्मत रमणीय वाक्य रचना है।

प्रमुख तत्त्व

(१) गद्य काव्य में कम शब्दों में अधिक भाव अभिव्यक्त करने की क्षमता होनी चाहिए। (२) उसमें भावना और कल्पना की प्रधानता होती है। (३) उसमें रमणीयता एवं सरसता की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। (४) उसमें गीत काव्य के सदृश अनुभूति और भावों की तीव्रता होनी चाहिये। (५) गद्य काव्य में छन्द का बन्धन नहीं है। पर उसमें वाक्यों और वाक्यांशों की आवृत्ति एक विशिष्ट प्रकार की होती है जिससे एक विशिष्ट लय उत्पन्न हो जाती है। (६) भाषा भावपूर्ण चित्रात्मक और ध्वनिमूलक होती है। अभिव्यक्ति में एक विचित्र वेग एवं मार्मिकता होती है।

प्राचीन ग्रंथों में गद्य काव्य के मुक्तक, उत्कलिका, चूर्णक और वृत्तिगंधि ये चार भेद मिलते हैं। आधुनिक युग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का प्रभाव गद्यकाव्य पर पड़ा है। अंग्रेजी साहित्य में ह्विटमन वाल्टरपेटर आदि गद्य काव्यकार हैं। हिन्दी में भी रायकृष्णदास, वियोगी हरि, आचार्य चतुरसेन

शास्त्री, अज्ञेय, सियारामशरण गुप्त, महाराजकुमार डॉ० रघुवीरसिंह, राम प्रसाद विद्यार्थी आदि प्रसिद्ध गद्य काव्य लिखने वाले साहित्यकार हैं। गद्य काव्य उन साहित्यकारों की विशेष उपयुक्त विधा है, जो अपने भाव, अनुभूति एवं कल्पना एक साथ गद्य और काव्य में अभिव्यक्त करना चाहते हैं। छन्द मुक्ति एवं बंधन मुक्ति को चाहने वाले गीतिकार गद्यकाव्य को अपना सकते हैं। गद्य और काव्य की मिलन रेखाओं पर निर्मित होने वाला गद्यकाव्य मेरी दृष्टि में, आधुनिक वैज्ञानिक युग के लिए एक वरदान ही है।

गद्य के भेद

उपन्यास

उपन्यास का महत्व—गद्य के प्रमुख भेदों में उपन्यास का महत्वपूर्ण स्थान है। विज्ञान के साथ गद्य का भी उत्कर्ष होना है। पद्य का परमोत्कर्ष महाकाव्य है और गद्य का परमोत्कर्ष उपन्यास है। आज के वैज्ञानिक युग में हमारी भाव प्रधानता लुप्त हो रही है और तार्किक बुद्धिवादी, विचारात्मक प्रवृत्तियों को अधिक आश्रय मिलता है। विज्ञान के कारण आज गद्य का युग अवतीर्ण हुआ है इस गद्य युग में उपन्यास का बोल बाला ही अधिक है। सुसंस्कृत और सभ्य समाज में रिसेंट लेटेस्ट-उपन्यास का चर्चा फैशन तक बन गयी है। उपन्यास के प्रशंसक सारे जगत में फैले हुए हैं। सिनेमा टेलिविजन का भांति उपन्यास पढ़ना, उस पर चर्चा करना उसका आनन्द उठाना आज के युग का धर्म रहा है। रामायण और महाभारत की कृतियाँ आजकल घर में उपलब्ध नहीं होगी, किन्तु उपन्यास की हानि की सम्भावना है। उपन्यास, साहित्य रचना के समस्त अंगों को हराता हुआ साहित्य संसार का मुख में बन गया है। काव्य और नाटक की अपेक्षा नवीनतर साहित्यविधा होते हुए भी उपन्यास लोकप्रिय और प्रभावशाली माना जाता है। इसका कारण यह है कि हमारे विराट जीवन का साक्षात वह करता है और उसका क्षेत्र भी विशाल है। वर्तमान युग के वास्तविक जीवन का दिखाने के लिए उपन्यास सच्चा प्रतिनिधि है। गीति काव्यों का पूंजीभूत भावसत्य दुःखान्त नाटकों का चिरंतन संघर्ष और करुणा, गीति कथाओं की प्रवहमानता, मुक्तक काव्य का उक्ति वैचित्र्य और नीति सत्य सभी कुछ उपन्यास में समा जाता है। समाज जो रूप धारण कर रहा है, उपन्यासकार उसका प्रत्यक्षीकरण ही नहीं कराता अपितु आवश्यकतानुसार समाज में परिवर्तन, सुधार आदि की भावना जगाता है। वर्तमान जगत में उपन्यास बड़ी शक्ति है। उपन्यास आत्मार्पण के लिए भी पढ़ा जा सकता है। अपने लचीले स्वरूप और विस्तृत चित्र फलक के कारण वह किसी भी यत

की प्रवत्तियो का प्रतिनिधित्व करता है। परिस्थिति की रगभूमि, समायण पात्र और कथानक सबके सुदर सम्मिलन से उपयास एक ही समय म नाटक और कथा दोनो का आस्वाद दे सकता है इसीलिए उसे Pocket Theatre पाकेट थिएटर भी कहा जाता है। विस्तृत चित्रफलक समाज का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति सवसमावेशकता वराट जीवन का अकन आदि के कारण उप यास को आधुनिक युग का महाकाय भी कहा जाता है। जीवन और जगत की जितनी सुदर और सर्वांगपूर्ण अभि यक्ति उपयास म दिखाई पड़ती है उतनी अय किसी विधा म नही मिलती। युग विशेष की सास्कृतिक झाँकी अपने वास्त विक रूप मे उप यास साहित्य मे उपलब्ध होती है। मनोविज्ञान की सबसे बड़ी मार्मिक अभियक्ति हम उपयास म मिलती है। आलपोट नामक पाश्चात्य विद्वानो ने तो विविध प्रकार के मनोवज्ञानिक सिद्धान्तो के यावहारिक रूप का अध्ययन करने के लिए बहुत से उपयोगी उपयास की लिस्ट तक दे डाली।

प्राचीन महाका य लिखित और अलिखित किन्तु परम्परा स स्वीकृत नियमो से बँधा हुआ है। महाकाव्य सुनिश्चित सामाजिक यवस्था की देन था और उपयास औद्योगिक युग की देन है। सामन्तशाही के विघटन पर, जब समाज का औद्योगीकरण होने लगा और मध्यवग का उदय हुआ तब उपयास का नवीन साहित्य रूप प्रकट हुआ। नवीन युग की सामाजिक और आर्थिक विशेषताओ को लेकर उप यास का विकास हुआ है। अतएव उसमे विस्तार सचय और नियमन की कमी आदि विशेषताएँ सहज ही द्रष्टय है।

उपन्यास शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या

'उपयास श द का मूल अथ है निकट रखी हुई वस्तु ' (उप+यास) उपयास की यारया उपयास प्रसादनम अर्थात उपयास पाठका को प्रसन्न करे। प्राचीनकाल मे पौराणिक कथाओ द्वारा मनोरजन किया जाता था। आज भी उपयास का अनिवाय धम मनोरजन अथवा आन द प्रदान करना है। जिसमे प्रसाद गुण न हो वह उपयास नही हो सकता। दूसरी यारया है– उपपत्ति कृतोह्यय उपयास प्रकीर्तित अर्थात किसी अथ को युक्ति युक्त रूप म उपस्थित करना ही उपयास कहा जाता है। उपयास श द विभिन्न अर्थों म प्रयुक्त होना है परतु जिस अथ म आज वह प्रयुक्त होता है उसकी झलक हम उपयास प्रसादनम म मिलता है।

अग्रेजी म उपयास श द के लिए Novel का प्रयोग होता है, जो इटालियन श द नाविला स बना है। इसका अथ है सूचना । अगरेजी म नवीन प्रकथन रचना की दष्टि स प.मला (Pamela) सवप्रथम उप यास कृति है और रिचाडसन नावेल' क ज मदाता हैं।

उपन्यास की परिभाषाएँ

वेबस्टर की उपन्यास की परिभाषा व्यापक और सर्वांगीण प्रतीत होती है। वह इस प्रकार है "उपन्यास एक ऐसा कल्पित विशालकाय तथा गद्यमय आख्यान है जिसमें एक ही कथानक के अन्तर्गत यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और उनके क्रिया कलापों का चित्रण रहता है।" अनेक हिन्दी–मराठी–अंग्रेजी विद्वानों ने उपन्यास की विविध परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं किन्तु समीचीन परिभाषा प्रस्तुत करना कठिन ही कार्य रहा है। अनेक परिभाषाओं में उपरिउल्लिखित परिभाषा में कम अपूर्णता है। यहाँ और एक बात ध्यान देने योग्य है —साहित्य के विविध रूपों पर प्रकाश डालते समय अनेक विद्वानों ने उपन्यास के लिए मराठी में 'नवल कथा' शब्दरूढ़ माना है, वस्तुतः वह गुजराती में रूढ़ है और मराठी में 'कादम्बरी' शब्द Novel के लिए प्रयुक्त होता है।

उपन्यास के तत्त्व

पाश्चात्य विद्वानों ने उपन्यास के मुख्यतः छः तत्त्व माने हैं–कथावस्तु, पात्र या चरित्र–चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य। इन पर हम क्रमशः विचार करेंगे ——

कथावस्तु

कथावस्तु उपन्यास का प्राण है। उपन्यास का कथानक इतिहास, पुराण, जीवनी, अनुश्रुति, विज्ञान, राजनीति इत्यादि कहीं से भी ग्रहण किया जा सकता है परन्तु उपन्यासकार को कथावस्तु का निरूपण करते समय जीवन के प्रति ईमानदार और सच्चा होना आवश्यक है। सार्वभौमता उसका अनिवार्य गुण है। उपन्यास का विषय अभिजात्य कुल का ही व्यक्ति होता है, ऐसी बात नहीं है कोई साधारण व्यक्ति और उसका जीवन भी उपन्यास का विषय हो सकता है। उपन्यासकार के लिए कथावस्तु चुनने की एकमात्र कसौटी है–जीवन को समग्र और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करे। कथावस्तु दो प्रकार की होती है एक सुव्यवस्थित और दूसरी अव्यवस्थित। विविध प्रकार के क्रिया कलाप ही कथानक का स्वरूप निर्माण करते हैं। ये क्रिया–कलाप विविध घटनाओं से निर्माण होते हैं। घटनाएँ ही कथानक के प्राण बन जाती हैं। इससे यह मतलब नहीं है कि घटनाओं का संग्रह ही कथानक है। उपन्यास में घटनाओं की व्यवस्थित अन्विति होनी चाहिए। अन्विति के अभाव में उपन्यास का कथानक व्यवस्थित नहीं बनेगा वह उखड़ा उखड़ा रहेगा। कथावस्तु प्रभावोत्पादक बनाने के लिए सफल उपन्यासकार प्रसंगानुसार विभिन्न शैलियों का प्रयोग करता

है। पत्र शैली, डायरी शैली, आत्मकथात्मक शैली, कथानक शैली आदि शैलियों के समुचित प्रयोग से वस्तु अभिव्यक्ति में कलात्मकता आ जाती है। उपन्यास की कला की सफलता मूलतः कथानक के चयन पर आश्रित है। उपन्यासकार को संगति और क्रम का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है और औचित्य और अनौचित्य पर उसे सदा दृष्टि रखनी होती है। घटनाओं को कलापूर्ण गूँथना उपन्यास की सफलता है। असम्बद्ध घटनाएँ कथावस्तु का निर्माण नहीं कर सकतीं। उपन्यास की कथावस्तु में प्रमुख कथानक के साथ-साथ कुछ प्रासंगिक कथाएं भी चल सकती हैं किन्तु दोनों परस्पर संबद्ध होनी चाहिए। कथावस्तु में पाठकों की रुचि आरम्भ से अन्त तक रहे, कौतूहलोद्दीपन की क्षमता होनी चाहिए। अत्यधिक संगठित कथानक में कृत्रिमता आ जाती है, अतएव कथावस्तु के संगठन के साथ-साथ उसमें स्वाभाविकता भी अनिवार्य है। कथानक में तीन गुणों का होना आवश्यक है—रोचकता, सम्भाव्यता और मौलिकता। रोचकता लाने के लिए कौतूहल और नवीनता आवश्यक है। आज का पाठक बुद्धिप्रवण एवं तर्कशील है, उसे कपोल-कल्पनाओं से सन्तोष नहीं मिल सकता। आज के जागरूक पाठक के लिए असम्भाव्य घटनाओं का कोई मूल्य नहीं है अतएव उपन्यासकार को सम्भाव्यता की ओर ध्यान देना चाहिए। मौलिक विषयों की संख्या परिमित होने के कारण वस्तु के प्रस्तुतीकरण में मौलिक ढंग से काम लेना चाहिए। कथावस्तु पिष्टपेषित होगी तो वह पाठकों का उचित मनोरंजन न कर सकेगी अतः रचना मौलिक होनी चाहिए।

चरित्र-चित्रण (पात्र)

उपन्यास के विभिन्न तत्वों में कथावस्तु का सर्वाधिक महत्व है अथवा चरित्र चित्रण का, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। मनोविज्ञान के बढ़ते हुए प्रचलन से साहित्य में चरित्र चित्रण का महत्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि कथावस्तु का महत्व उपेक्षणीय है। उपन्यास में कथा और पात्रों का अभेद्य सम्बन्ध है। घटनाओं से पात्रों की सृष्टि होती है और पात्रों से घटनाओं की सृष्टि होती है। उपन्यास के पात्र सजीव स्वाभाविक एवं सहज हों। आज उपन्यास के दो वर्गों—घटना प्रधान और चरित्र प्रधान—उनमें चरित्र उपन्यास को ही अधिक महत्व दिया जाता है। किसी भी पात्र के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं— बाह्य और आन्तरिक। बाह्य व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसका आकार रूप वेशभूषा आचरण का ढंग बातचीत आदि आते हैं और आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध उसकी मानसिक तथा बौद्धिक विशेषताओं से होता है। बाह्य पक्ष का उद्घाटन करने के लिए लेखक विवरण शैली

का प्रयोग करता है और आन्तरिक व्यक्तित्व के उदघाटन के लिए विश्लेषणात्मक विधि और अप्रत्यक्ष चित्रण विधि का आश्रय लेता है। सफल चरित्र चित्रण के लिए मानव स्वभाव का सामान्य ज्ञान, मनुष्य के अन्तर्मन का परिचय, उसके भावों, विचारों, रागद्वेषो, अन्त सघर्षों की जानकारी के अतिरिक्त सहानुभूति, कल्पना शक्ति तथा वर्ग विशेष की जानकारी अपेक्षित है। आलोचकों ने सुविधा के लिए पात्रो के निम्न भेद किए हैं —

१ व्यक्तिप्रधान (Individual character)—वह पात्र जो वर्ग विशेष के गुण दोषो का प्रतिनिधित्व न कर अपनी विशिष्ट चारित्रिक विशेषताएँ रखता है—शेखर एक जीवनी का शेखर।

२ वर्गप्रधान पात्र (Typical character) वह पात्र जो अपने वर्ग (किसान, मजदूर, पूँजीपति अमीर) का प्रतिनिधित्व करता है—गोदान का होरी।

३ स्थिरपात्र (Static or flat character) कुछ पात्र आरम्भ से अन्त तक समान रहते हैं, उनमे परिस्थितियो के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता।

४ गत्यात्मक या परिवर्तनशील पात्र (Kinetic or Round character) परिस्थितियो के कारण जिनकी जीवन दिशा और विचार पद्धति में परिवर्तन आता है ऐसे विकासशील पात्र इसके अन्तर्गत आते हैं।

कथानक की दृष्टि से प्रधानपात्र-नायक-नायिका प्रतिनायक-प्रतिनायिका आदि और गौण पात्र—ये दो भेद हो जाते हैं।

चरित्र चित्रण की वर्णनात्मक विश्लेषणात्मक नाटकीय प्रणालियाँ हैं। सफल उपन्यासकार तीनों प्रणालियों का सम्यक प्रयोग करता है। आधुनिक काल में चरित्र चित्रण की प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म और कलात्मक हो गई है। जैसे घटनाएँ ऊपर से थोपी न हो, उसी प्रकार पात्र लेखक की कठपुतली मात्र न होकर स्वतन्त्र अस्तित्व वाले हों। प्रत्येक साहित्यकार का अमर पात्र उसकी अमरता का द्योतक होता है।

कथोपकथन

पात्रों के परस्पर वार्तालाप को कथोपकथन कहते हैं। कथोपकथन द्वारा घटनाओं को गतिशीलता प्रदान की जाती है और बहुत सी नवीन घटनाओं का प्रादुर्भाव होता है। कथोपकथन द्वारा कथावस्तु में नाटकीयता और सजीवता आ जाती है। कथोपकथन द्वारा पात्रों की आंतरिक मनोवृत्तियों का प्रदर्शन होता है। कथोपकथन द्वारा उपरि उल्लिखित कार्य न होते हो, और वह दिगली

विस्तृत होना चाहिए न संक्षिप्त। वास्तव में प्रकृति और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामंजस्य का पाठक पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। देश काल वातावरण का चित्रण, उपन्यास में, साधन अथवा सहायक रूप में होना चाहिए न कि साध्य के रूप में।

शैली — शैली साहित्य के सभी अंगों में समान रूप से व्याप्त रहता है। उपन्यास की भाषा शैली प्रसाद एवं मधुर गुणों से युक्त होनी चाहिए। अलंकार मुहावरे लोकोक्तियों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। शैली विषय के अनुरूप होनी चाहिए और जिस प्रकार के जीवन की अभिव्यक्ति होनी है उसके लिए उपयुक्त होनी चाहिए।

उद्देश्य — ज्ञानवृद्धि के लिए उपन्यास पढ़े नहीं जाते, तो मनोरंजन और आनन्द प्राप्ति के लिए पढ़े जाते हैं। अतएव मनोरंजन और आनन्द प्रदान करना ये तो उपन्यास के अनिवार्य प्रयोजन हैं। कुछ उपन्यास निश्चित मतों अथवा सिद्धांतों के प्रचारार्थ भी लिखे जाते हैं ऐसे उपन्यास प्रायः अरुचिकर और निम्नकोटि की रचनाएँ लगती हैं। समाज परिवर्तन तथैव अपने युग के मानव की काया पलटने के लिए भी उपन्यास लिखे जाते हैं। उपन्यासकार जब दार्शनिक उपदेशक अथवा धर्म का ठेकेदार बनकर प्रवचन करने लगेगा तो वह उपन्यास सफल नहीं रहेगा। आज के उपन्यास मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा मानव मन के गहनतम स्तरों की व्याख्या करते हैं। उसके साथ ही जीवन को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखकर उसकी व्याख्या भी करना चाहिए।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यासों का कथाशैली के विषय आदि के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है। नीतिप्रधान घटनाप्रधान इतिहासप्रधान, मनोविश्लेषण प्रधान सिद्धान्त प्रधान, चरित्र प्रधान समस्या प्रधान, कथात्मक आत्मकथात्मक तिलस्मी एयारी और जासूसी सामाजिक, राजनीतिक ऐतिहासिक, आंचलिक हास्यरसप्रधान, यथार्थवादी आदर्शवादी आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी आदि रीति से उपन्यासों का अनेक दृष्टि से वर्गीकरण किया जाता है।

कहानी

साहित्य की सबसे लोकप्रिय विधा कहानी है। हमारा कहानियाँ प्रतिदिन सैकड़ों मासिक पत्रिकाओं–साप्ताहिकों–पाक्षिकों में प्रकाशित होती हैं। वैज्ञानिक युग के मनुष्य को अतिशय कम समय में मनोरंजन एवं आनन्द प्रदान करने वाली एकमात्र कहानी है। कविता लघु होते हुए भी सामान्य जन उसका आनन्द नहीं उठा सकते। बच्चे, बूढ़े, युवक–युवतियाँ और अल्प शिक्षित सब कहानी का आनन्द उठा सकते हैं। वैज्ञानिक युग के व्यस्त जीवन में केवल

कहानी ही लिजर (Leisure) है। लोकरंजन के लिए कहानी कहने की प्रवृत्ति आदिम काल से लक्षित होती है। प्राचीन काल की कहानियों में दैवी घटनायें और संयोग अधिक थे आज कहानी मानव केन्द्रित बन गई है। कहानी का आकार सीमित होने के कारण मानव जीवन का सम्पूर्ण चित्रण उसमें सम्भव नहीं होता। मनुष्य जीवन की एक घटना एक पल एक अनुभूति अथवा जगत् का एक दृश्य–लेकर कहानीकार अपनी कहानी लिखता है।

कहानी की परिभाषा

यहाँ कुछ कहानी की परिभाषायें प्रस्तुत की जा रही हैं—

एडगर एलन पो– 'A short story is a narrative short enough to be read in a single sitting written to make an impression on the reader excluding all that does not forword that impression complete & final in itself' अर्थात छोटी कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिए लिखा गया हो। उसमें ऐसी बातों को त्याग दिया जाता है जो उसकी प्रभावोत्पादकता में बाधक हों। वह स्वतः पूर्ण होती है।"

हडसन— 'A short story must contain one & only one informative idea & that the idea must be worked out to its logical conclusions with absolute singleness of aim & directness of method' अर्थात लघु कथा में केवल एक ही मूल भाव होता है। उस मूलभाव का विकास तार्किक निष्कर्षों के साथ लक्ष्य की एक निष्ठता से सरल स्वाभाविक गति से किया जाना चाहिए।" उस कहानी के आकार के सम्बन्ध में केवल इतनी ही बड़ी होनी चाहिए कि सरलता से एक बैठक में समाप्त हो जाय। एलोरी सेजविक (Ellory sedgewick) A short story is just like a horse race It is the start and finish which count most अर्थात् लघु कथा घुड़दौड़ के समान है, जिसका आदि और अंत महत्वपूर्ण होता है।

प्रेमचन्द—'कहानी एक रचना है जिसमें जीवन के किसी अंग या किसी मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा विन्यास सब उसकी पुष्टि करते हैं। वह एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

वस्तुत अच्छी कहानी के गुण परिभाषा में नहीं बाँधे जा सकते। कहानी की कोई परिभाषा पूर्ण नहीं है। विद्वान् कहानी के स्वरूप को, अथवा किसी एक पक्ष को अपनी परिभाषाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं।

कहानी का स्वरूप

उपरि उल्लिखित परिभाषाओं तथा अन्य परिभाषाओं के आधार पर यहाँ कहानी के स्वरूप की विवेचना करेंगे। कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है उसका लघु आकार। उपन्यास बड़ा होता है और कहानी छोटी। अर्थात छोटी कहानी छोटा उपन्यास नहीं है। अथवा उपन्यास का लघु संस्करण भी नहीं है। वह एक बैठक–याने आधे घन्टे की बैठक में समाप्त होनी चाहिए। कहानी का वर्ण्य जीवन या जगत की कोई एक घटना एक विचार, एक परिस्थिति या एक भावना होती है। इसके निर्वाह के लिए संवेदना की केन्द्रियता और एकता आवश्यक होती हैं जो कहानी का प्राण है। संवेदना की केन्द्रियता और एकता की सफल योजना ही औचित्यपूर्ण प्रभावाभिव्यक्ति को जन्म देती है। कहानी का अपना एक स्वतन्त्र शिल्प है, एक अलग संविधान है। अतएव कहानी की रचना उस संविधान अनुरूप होनी चाहिए। कहानी में कौतूहल, जिज्ञासा आदि को जागृत करने की क्षमता होनी चाहिए। इसमें एक जबरदस्त आकर्षणशक्ति एवं मधुर रजकता और रोचकता होती है। कहानी जीवन के एक लघु किन्तु रोचक अंश को, एक ऐसे अनुभव को जिसमें नाटकीय सम्भावनाएँ निहित रहती हैं, एक उत्तेजक परिस्थिति को अथवा एक ऐसे क्षण को जो घटनाओं और अनुभूतियों का केन्द्र बिन्दु सिद्ध होता है अपना विषय बनाता है। उसमें विषय तथा प्रभाव में विस्तार की अपेक्षा तीव्रता और एकाग्रता अधिक होती है।

कहानी के तत्व

कहानी के छ तत्व हैं –कथावस्तु पात्र, कथोपकथन, वातावरण, शैली, उद्देश्य।

कथावस्तु —आजकल कहानी कथा के बिना भी लिखी जाती है। कहानीकार किसी जगत के दृश्य को अथवा किसी उत्तेजक अनुभूति को सविस्तार वर्णन करता है। मनोविश्लेषण पद्धति अपनाने के कारण कथा बिना कहानी लिखने का प्रयास किया जाता है। कहानी की परिधि विस्तृत होती है। इसलिए वह इतिहास, पुराण, साहित्य, पत्रपत्रिकायें, दैनिक जीवन की घटनायें कल्पना आदि स्रोतों से सामग्री एकत्रित करती है। हडसन के अनुसार कोई नाटकीय घटनायें या परिस्थितियाँ कोई प्रभावात्मक दृश्य कोई चरित्र कोई मार्मिक पक्ष, कोई महत्त्वपूर्ण अनुभव, खण्ड अथवा कोई नैतिक तथ्य, इनमें

से कोई एक अथवा सहस्रो अन्य प्रेरणाओं से जिनकी परिगणना की जा सकती है, किसी सफल कहानी का मूलभाव बन सकते हैं। यह मूलभाव ही कहानी का प्राण है। कहानी के रूप विधान मे कल्पना का महत्व भुलाया नही जाता। कहानी के कथानक में संघर्ष की आवश्यकता विशेष रूप से घटना प्रधान कहानियों मे होती है। संघर्ष विहीन कहानी भी प्रभावपूर्ण हो सकती है। कहानी को प्रभावपूर्ण बनाने के साथ रोचकता के लिये भी औत्सुक्य जिज्ञासा एव कौतूहल बढ़ाने की शैली अपनाना आवश्यक है। कथानक की गति स्पष्ट, एक रस सरल और सीधी होनी चाहिए। कहानी के कथानक की संक्षिप्त, कलात्मक और मार्मिक अभिव्यक्ति अपेक्षित है। कथावस्तु से सजीव एकता का आभास मिलता है तो उस एकता मे प्रारम्भ मध्य और अन्त को हम अलग नही कर सकते। कहानी का अन्त प्रारम्भ से सम्बन्धित होता है। The end of the short story is flesh and blood of the beginning कहानी की आकस्मिक समाप्ति वाछनीय नही है, पाठको को वह तर्कपूर्ण नहीं लगती। कहानी चरम सीमा पर समाप्त होती है तो पाठक की जिज्ञासाए भी शान्त हो जाती हैं। कहानीकार कहानी को चरम सीमा के आगे किसी बलवत हेतु से ही बढ़ा सकता है। कहानी का प्रारम्भ और अन्त कलात्मक होना चाहिए।

पात्र और चरित्र-चित्रण

प्रेमचन्द्र जी ने मानव चरित्रों को प्रमुखता देते हुए लिखा है कि 'कहानी मे घटनाओ का कोई स्वतन्त्र महत्व नही होता। उनका महत्व केवल पात्रो के मनोभावो को व्यक्त करने की दृष्टि से है। कहानी म चरित्र का उद्घाटन किया जाना है उसका विकास दिखाना अपेक्षित नही है क्योकि कहानी का आकार छोटा होता है।' कहानीकार अपने चरित्रो के मनोभावो की व्याख्या करने नही बैठता केवल उसकी तरफ इशारा करता है। चरित्र सम्बन्धी सूक्ष्म विशेषताओं का चित्रण करना ही उसका लक्ष्य होता है। कहानी म पात्रो की सख्या कम होनी चाहिए। अधिक पात्रो के कारण प्रमुख पात्रा से दृष्टि हटने की सम्भावना होती है। कहानी म प्रमुख पात्रो के चरित्र पर ध्यान देना आवश्यक है। अब चरित्र चित्रण के निरूपण म मनोविज्ञान की विशेष सहायता ली जाती है। चरित्र की दमित भावनायें आकाक्षायें आदि का भी चित्रण किया जाता है। अब चरित्र चित्रण की प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म और रोचक हो गई है। वस्तुत पात्रो के स्वाभाविक और सजीव चित्रण के लिए लेखक को अपना व्यक्तित्व पात्रो पर आरोपित नहीं करना चाहिए। चरित्र निरूपण मे वास्तविकता, सजीवता स्वाभाविकता और आन्तरिकता का निर्वाह होना आवश्यक है। चरित्र के यथार्थ रूप के लिए कहानीकार को पात्रों की वेषभूषा

उनका रूपाकार, नाम, वर्ण, काया, आदत व्यसन भाषा आदि का अनुरूप और औचित्यपूर्ण वर्णन करना चाहिए।

कथोपकथन

कथोपकथन को महत्त्व प्रदान करने वाले आलोचक कहानी को सवादात्मक चित्र विधा' तक कहते हैं। कथोपकथन द्वारा वर्णन में रोचकता आती है पात्रों के चरित्र उभारते हैं कथावस्तु का विकास होता है कहानी में स्वाभाविकता आती है और कभी कभी विशेष प्रकार का वातावरण निर्माण में सहायता होती है। सफल कथोपकथन संक्षिप्त, व्यग्यात्मक, नाटकीय सक्रियत्व, औत्सुक्यपूर्ण, चुटीले और देशकाल पात्र परिस्थिति, घटना भाव आदि के अनुकूल होने चाहिए। कहानी में लम्बे लम्बे भाषणों तथा सिद्धान्त विवेचना के लिए कोई स्थान नहीं है। वार्तालाप जितने अधिक मनोभावों के अनुकूल होंगे उतने वे अधिक कलात्मक और उत्कृष्ट होंगे।

वातावरण—प्रत्येक कहानी का कथानक अपना परिपार्श्व रखता है। वातावरण निर्माण की कला अत्यन्त सूक्ष्म है। प्राकृतिक पार्श्वभूमि, क्रिया कलाप चरित्रों का व्यवहार और वार्तालाप आदि अनेक उपकरणों से वातावरण निर्माण में सहायता मिलती है। कहानी में स्वाभाविकता और सजीवता को लाने के लिए वातावरण निर्मिति आवश्यक है। ऐतिहासिक और पौराणिक तथा आंचलिक कहानियों में वातावरण चित्रण अनिवार्य सा है। प्रसाद की कहानियों में प्राचीन भारत का तथा चतुरसेन शास्त्री की कहानियों में मुगलकालीन भारत का विलासतापूर्ण वातावरण अत्यन्त सफलता पूर्वक निर्मित हुआ है। हिन्दी में नागार्जुन फणीश्वरनाथ रेणु आदि की कहानियों ने स्थानीय वातावरण सुन्दर रीति से चित्रित किया है।

शैली—कहानी ऐतिहासिक आत्मकथन संवादात्मक पत्रात्मक अथवा डायरी शैली को अपनाकर लिखी जाती है। शैली में रोचकता, सजीवता संकेतात्मकता और प्रभावात्मकता का होना नितान्त आवश्यक है। इन विशेषताओं को लाने के लिए कुछ आलंकारिकता का कुछ लोकोक्तियों मुहावरों का आश्रय लेते हैं। प्रसाद जी आलंकारिक भाषा का और प्रेमचन्दजी ने मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया है। साधारण जीवन को अंकित करने वाली कहानियों में दैनिक बोलचाल की भाषा प्रयुक्त होती है जिसमें गति और लोच रहती है। व्यंग्य हास्य लाक्षणिक प्रयोगों की भी कहानी की शैली में उपादेय है। शैली बहुत बोझिल नहीं होनी चाहिए। विषय पात्र एवं परिस्थिति के अनुसार वह होनी चाहिए।

उद्देश्य—कहानी के उद्देश्य मनोरंजन सामाजिक नैतिक बातों का समर्थन भावात्मक अभिव्यक्ति कलात्मक रचना जीवन सत्य का सन्देश देना, क्रान्ति द्वारा जीवन परिवर्तन सत्य की प्रतिष्ठा आदि हो सकते हैं। कहानी के उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से और प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किये जाते।

कहानियों के प्रकार

हिन्दी में अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी गयी हैं उनका तात्त्विक वर्गीकरण करना एक कठिन कार्य है। यहाँ स्थूलरूप से कहानियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है—१ घटना प्रधान २ चरित्र प्रधान ३ वातावरण प्रधान ४ प्रभाव प्रधान ५ हास्यपरक ६ सामाजिक ७ ऐतिहासिक ८ प्रतीक वादी।

कहानी का शीर्षक

कुछ विद्वान कहानी के शीर्षक को बड़ा महत्व देते हैं और कुछ विद्वान नहीं देते। महत्व देने वाले विद्वानों के अनुसार शीर्षक कहानी का दर्पण है। कुछ अतिशयोक्ति से उसे कहानी का प्राण तक मानते हैं। उनका कहना है कि शीर्षक कहानी की विज्ञापना ही नहीं तो कहानीकार के व्यक्तित्व की विशेषतायें अभिव्यंजित करता है और जीवन के जिस मार्मिक पक्ष का वह (शीर्षक) उद्घाटित करता है उसकी भी प्रतिच्छाया शीर्षक में रहती है। अच्छे शीर्षक के सम्बन्ध में कहा जाता है—A good title is apt specific attractive new and short अर्थात् अच्छा शीर्षक स्पष्ट नवीन आकर्षक विषय अनुकूल जनक होना चाहिए। उसमें पाठक की जो कुतूहल जाग्रत करने की क्षमता होनी चाहिए। शीर्षक कहानी की प्रकृति भावना वस्तु के अनुरूप होना चाहिए।

उपन्यास और कहानी

कहानी और उपन्यास में आकार का अन्तर होता है—उपन्यास का आकार बड़ा होता है और कहानी का छोटा। यहीं एक प्रश्न उपस्थित होता है क्या आकार में छोटा उपन्यास कहानी बन सकता है? अर्थात् इसका स्पष्ट उत्तर नकारात्मक ही है, क्योंकि उपन्यास और कहानी साहित्य की दो स्वतन्त्र विधायें हैं। जिस प्रकार विशाल वट वृक्ष का लघु संस्करण पौधा बन नहीं सकता अथवा पशकोटि के होते भी छोटा बाघ बिल्ली नहीं बन सकता उसी प्रकार उपन्यास का लघुसंस्करण कहानी नहीं है। उसी प्रकार यह भ्रामक धारणा फैली हुई है कि कहानी छोटा उपन्यास बन सकती है। शिल्प विधान की दृष्टि से मूल्यांकन करने पर कहानी कहानी रहेगी उपन्यास उपन्यास रहेगा। उपन्यास और कहानी में वही सम्बन्ध हो सकता है जो नाटक और एकांकी में

अथवा महाकाव्य और गीतिका में भी हो सकता है।

उपन्यास में जीवन की विशालता जटिलता बहुरूपता का अंकन होता है, वह जीवन का सर्वांगीण चित्रण उपस्थित करता है कहानी जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को या जीवन की एक मुख्य भाँकी का चित्रण करती है।

उपन्यास में चित्रित विराट् जीवन का चित्र पढ़कर हमें संताप होता है तो कहानी हमें प्रेरणा देती है। The novel is a satisfaction, the short story is a stimulus कहानी में विषय के एकत्व के साथ प्रभावों की एकता भी होती है। कहानी में जैसी प्रभावान्विति पाई जाती है वैसी उपन्यास में उसी मात्रा में नहीं मिलती। कहा जाता है—A good short story differs from the novel chiefly in its essential unity which a novel can not have it कहानी एक ही वस्तु या भाव को केंद्रित कर उस पर पूरा प्रकाश डालती है। जीवन का सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण कहानी में उपन्यास की अपेक्षा अधिक सम्भव है। कहानी में भावों की तीव्रता होती है और संयम से काम लेना पड़ता है। उपन्यासकार की अपेक्षा कहानीकार को संचयन और विवेकशक्ति की अधिक आवश्यकता होती है। उपन्यासों में प्रसंगवशात् लम्बे भाषण दार्शनिक व्याख्याएँ चर्चा आदि बातों का समावेश होता है किन्तु कहानी में उनके लिए गुंजाइश नहीं है।

उपन्यास में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व और घटना के लिए जितना बड़ा अवकाश रहता है, उतना कहानी में नहीं रहता। उपन्यास में सविस्तार निर्बाध गति से अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया जाता है कहानी में द्वन्द्व संयमित रखना पड़ता है। उपन्यासों में अनेक पात्रों का नाना विस्तृत विश्लेषण के साथ चित्रण किया जाता है, किन्तु कहानी में कम पात्रों का और संकेत में चित्रण किया जाता है उपन्यास में पात्रों के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश डाला जाता है तो कहानी में पात्रों की विशेषता पर प्रकाश डाला है। हडसन के अनुसार कहानी में चरित्र का उद्घाटन किया है और उपन्यास में चरित्र को विकसित किया जाता है इसी कारण कहानी में चरित्र चित्रण की अभिनयात्मक शैली और उपन्यास में विश्लेषणात्मक शैली अपनाई जाती है। In short-story character is revealed, not developed उपन्यास समग्र दृष्टि लेकर चलता है तो कहानी एकाग्र दृष्टि। उपन्यास में महाकाव्य के सदृश ही रसात्मक एवं इतिवृत्तात्मक स्थल पाए जाते हैं कहानी में इतिवृत्तात्मकता के लिए स्थान नहीं होता, उसमें सर्वत्र व्यंजनामूलक रसात्मकता को ही महत्व दिया जाता है। संक्षिप्तता कहानी में बड़ा महत्व रखती है। उपन्यास में विवरण विश्लेषण होता है अतएव घटनायें भी विशृंखल बनती हैं। कहानी में घटना, पात्र, भा

आदि म एक प्रकार की समानता रहती है। कहानी म सकेतात्मक, व्यजना से काम लेना पड़ता है। उपन्यास म प्रासगिक कथायें आधिकारिक कथाओं की एकरसता दूर करने के लिए होती हैं कहानी म इनके लिए अवसर नहीं होता।

रेखाचित्र (शब्द चित्र)

रेखाचित्र अग्रजी के (sketch) स्केच शब्द का समानार्थी है। कुछ समीक्षक भ्रमवश रेखाचित्र को कहानी अथवा निबन्ध के अन्तगत रखते हैं। रेखाचित्र को कहानी और निबन्ध के बीच की साहित्यिक विधा मानना चाहिए। रेखाचित्र म यदि दो डायमेन्शन होते हैं तो कहानी म तीन। जिस प्रकार चित्रकार आडी तिरछी रेखाओं स सुन्दर सजीव सा चित्र चित्रित करता है उसी प्रकार रेखा चित्रकार जीवन की विविध घटनाओं, व्यक्तियों दृश्यो का एसा प्रभावशाली वणन करता है कि पाठक के सामने वह व्यक्ति प्रसग वातावरण स्थान साकार हो उठता है। डा० भगीरथ मिश्रजी ने रेखाचित्र की परिभाषा देते हुए लिखा है कि अपने सम्पर्क म आए किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा सवेदना को जगाने वाली सामान्य विशेषताओं से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के ममस्पर्शी स्वरूप को देखी सुनी या सकलित घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस प्रकार उभार कर रखना कि उसका हमारे हृदय म एक निश्चित प्रभाव अकित हो जाय रेखाचित्र या शब्द चित्र कहलाता है। रेखा चित्रकार को भी अत्यन्त कठिन साधना करनी पडती है। रेखाचित्रकार प्रकृति की जड अथवा चेतन किसी भी वस्तु को अपने शब्द शिल्प से सजीव कर देता है। इस सजीव चित्रण के लिये जीवन के विविध अनुभव प्राप्त करना और मनोवैज्ञानिक घात प्रतिघात से परिचित होना आवश्यक है। रेखाचित्र में बुद्धि कल्पना और भाव तीनो का समन्वय होता है। शब्द चित्र की विशेषतायें नीचे दी हैं—

रेखाचित्र की प्रथम विशेषता है वास्तविक वणन। रेखाचित्रकार वर्ण्य विषय को यथाथ की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत करता है जिसमे झूठ या बनावटी बातो को स्थान नही रहता। इसमे अनावश्यक चित्रण के लिए स्थान नहीं रहता, केवल सवेदना जाग्रत करने के लिये और परिचय मात्र के लिए ही परिस्थितियों का और घटनाओ का वणन होता है और व्यक्ति का उभार परिस्थिति के बीच होता है। दूसरी विशेषता है चरित्रगत विशेषताओं का उभार। लेखक अपने अनुभव के प्रमाण के साथ व्यक्ति की रूपरेखा और व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। रूपरेखा मुद्राओ और चेष्टाओ का यथाथ चित्रण कर लेखक उस व्यक्ति को साकार करता है और दूसरो के साथ व्यवहार, परोपकार देश प्रेम, उन्मत्तता आदि भावो पर प्रकाश डाल उसकी मानसिक स्थिति का विश्लेषण करता है। तीसरी विशेषता है भ और सवदना को जाग्रत करना। प्रेम करुणा, हास, घृणा आदि जो

प्रमुख भाव हैं वे शब्द चित्र से जाग उठते हैं। चौथी विशेषता है शैली। रेखा चित्रकार के लिए अपनी विशेष शैली होना आवश्यक है, जिसके बिना सफल शब्दचित्र चित्रित करना असंभव है। वर्णन शैली में हास्य व्यंग्यपूर्ण, चुभते हुए विशेषण नई किंतु तुली हुई शब्दावली होती है। जिसमें व्यक्ति सम्पर्क की आत्मीयता और सहानुभूति का सामंजस्य होता है। लेखक को कम से कम शब्दों में तीव्र एवं मर्मस्पर्शी भावव्यंजना करनी पड़ती है। बीच बीच में चरित्र व्यंजक वार्तालाप होते हैं जिनकी भाषा पात्रानुकूल होती है। अपनी कृति सजीव बनाने के लिए, साम्यमूलक अलंकार लक्षणा व्यंजना, चित्रोपम विशेषण, ध्वनिचित्र और विराम चिह्नों के कुशल प्रयोग का आश्रय लेता है। सांकेतिक शैली उसके लिए अनिवार्य है। उसमें तथ्यों का संयोजन नहीं होता केवल उद्‌घाटन होता है।"

हिन्दी म रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, महादेवी वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि इस क्षेत्र म प्रमुख हैं। रेखाचित्र के वर्णन प्रधान संस्मरणात्मक, संवेदना मूलक, व्यंग्यात्मक रूपकात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि प्रकार माने जाते हैं।

जीवनी (Biography)

जीवन चरित्र के दो रूप होते हैं—जीवनी और आत्मकथा। जीवनी दूसरे के द्वारा लिखी जाती है और आत्मकथा स्वयं लिखी जाती है इतिहास म भी अनेक प्रमुख व्यक्तियों का जीवन चरित्र दिया जाता है। किन्तु इतिहास म उल्लिखित जीवन-चरित्र और जीवनी म अन्तर है। इतिहास मे बाह्य घटनाओं पर बल रहता है, जीवनी में आन्तरिक वृत्तियों पर बल रहता है। इतिहास में न इतिहासकार का व्यक्तित्व झलकता है न किसी व्यक्ति को प्राधान्य दी जाती है वह तो जाति और राष्ट्र को ही प्राथमिकता देता है। जीवनी में साधारण घटनाओं का, व्यक्ति का महत्त्व होता है और जीवनीकार का व्यक्तित्व भी झलकता है। जीवनी लिखना एक कठिन कार्य है। इसकी ओर संकेत करते हुए कार्लाइल ने लिखा है कि 'एक सफल चरित्र का लिखना उतना ही कठिन है जितना एक सफल जीवन का अपने जीवन म निभाना।' जीवनी लिखने मे जीवनी लेखक को अपने राग द्वेषों से मुक्त होकर नायक के प्रति निष्पक्षता प्रकट कर ही लिखना पड़ता है। जीवनी लेखन कला का सबसे सुकोमल और सहानुभूति पूर्ण स्वरूप है। जान्सन ने जीवनी की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'जीवनीकार का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रिया कलापों का रंजक वर्णन करना होता है जो व्यक्ति विशेष की बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी छोटी से घरेलू बातों तक सम्बन्धित होती हैं।

जीवनी म कल्पना का प्राधान्य नहीं होता उसका कथानक सत्य होता है। लेखक का प्राय जीवनी नायक के साथ कभी कभी घनिष्ठ सब ध होता है। जीवनी म व्यक्ति का सम्पूण जीवन वत्ता त भी आ सकता है अथवा किसी तक काल या चरित्र प र पर भी लिखी जा सकती है। जीवनी म यदि रोचकता घटनाओ का सचयन और सरसता नही हागा तो वह जीवन चरित्र का केवल ल्या जोखा हो र र इतिहास बनेगा । जीवनी का नायक कोइ प्रख्यात व्यक्ति हाना है और उसस सम्ब धित वणित घटनाए भी सच्ची होनी चाहिए। जीवनी चरित नायक की महानता योग्यता उदात्तता प्रदर्शित करना जीवनी का लक्ष्य होता है। नायक के प्रति प्रेम सहानुभूति सहृदयता भावुकता रखकर ही जीवनी लिखी जाती है अश्रद्धा भाव, द्वष, ईर्ष्या आदि स लेखक जीवनी य प्रति याय नही कर सकेगा । जीवनी के लिए–उस व्यक्ति पर लिखे गये लेख ग्रथ का य, कविता, उस यक्ति के पत्र डायरी समकालिक व्यक्तियो के सस्मरण, उसके परिचित व्यक्तियो द्वारा दी गई सामग्री चरित नायक के निवास स्थल उसका भ्रमण आदि स्रोतो स सामग्री जुटाई जा सकती है।

अग्रजी में बॉसवेल की जा सन (Johnson) द्वारा लिखित जीवनी अतिशय प्रसिद्ध है। जीवनियां विविध क्षत्रो के महापुरुषो पर लिखी जा सकती हैं–धार्मिक, राजनीतिक ऐतिहासिक महापुरुषो की जीवनियां तथा साहित्यकार, कलाकार, सगीतकार वज्ञानिक आदि पर भी जीवनियां लिखी जाती हैं। हिन्दी म विस्तत जीवनी साहित्य उपल ध है।

सस्मरण

सस्मरण और जीवनी म अतर यह है कि सस्मरण लेखक साहित्यकार पहले होता है और इतिहासकार बाद म जबकि जीवनीकार इतिहासकार पहले और साहित्यकार बाद मे। हिन्दी मे सस्मरण लेखन अभी प्रारम्भ हुआ है। इस पर भी पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव है। सस्मरण के सम्ब ध मे डा शातिस्वरूप गुप्त ने लिखा है भावुक कलाकार जब अतीत की अन त स्मृतियो म से कुछ स्मरणीय अनुभूतियो को अपनी कोमल कल्पना से अनुरजित कर यजनामूलक सवेद्य शली म व्यक्त करता है, तब उसे सस्मरण कहते हैं।" सस्मरण लेखक प्राय प्रसिद्ध व्यक्ति ही होते है। सस्मरण म कल्पना का पुट कम और कभी कभी किसी देश काल युग विशेष का चित्रण भी आ सकता है। अर्थात् सस्मरण यह इतिहास नही है। अग्रजी मे सस्मरण के लिए दो शब्द हैं–Reminiscence और memoirs जब लेखक अपने बारे में लिखता है तो उसे

[illegible]' कहते हैं और दूसरों के बारे में लिखता है तो 'मेमॉयर्स' कहते हैं। चर्चिल के द्वितीय महायुद्ध के संस्मरण (memoirs) अमर हो चुके हैं। हिन्दी में [illegible] सत्यार्थी, महादेवी वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, सत्यभक्त [illegible] [illegible] आदि श्रीराम शर्मा आदि इस क्षेत्र के प्रमुख लेखक हैं।

आत्मकथा

[illegible] कथा स्वयं लेखक की होती है उसे कोई दूसरा नहीं लिखता। आत्म-कथा [illegible] व्यक्ति धर्म, साहित्य, कला, राजनीति, विज्ञान आदि क्षेत्रों में [illegible] होता है। आत्म-कथा लेखक में आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति [illegible] नहीं होनी चाहिए और दूसरों पर कीचड़ उछालना नहीं चाहिए। इसके [illegible], जीवन की कुछ घटनाओं को जानबूझकर छिपाना [illegible] भी वांछनीय नहीं है। आत्म-गुण गौरव की गाथा कहने में भी लेखक को सावधानी से काम लेना चाहिए। आत्म-कथाएँ [illegible] रूप में लिखी जा सकती हैं। [illegible] और [illegible] आत्म-कथा। [illegible] निबन्धों द्वारा लिखी [illegible] बाबू गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' आत्मकथा उल्लेखनीय है। [illegible] गांधी जी, नेहरू जी की आत्मकथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। आत्म-कथा और संस्मरण में अन्तर बताते हुए [illegible] ने लिखा है "एक में चरित्र पर बल दिया गया है और दूसरे में बाह्य घटनाओं और वस्तु आदि के विवरणों और वर्णनों पर ही लेखक की दृष्टि रहती है। संस्मरण में लेखक अधिकतर [illegible] [illegible] [illegible] वस्तुओं और क्रिया-कलापों आदि का संस्मरणात्मक चित्रण करता है जिनका उसके जीवन में समय समय पर साक्षात्कार हो चुका है। इसी कारण उसमें एक प्रकार का विशृंखलता रहता है, आत्म-कथा में यह [illegible] नहीं पाई जाती है। इसमें लेखक के जीवन का एक शृंखलाबद्ध [illegible] रहता है जिसमें वह अपनी विगत जीवन सामग्री को पृष्ठ-[illegible] [illegible] घटनाओं का [illegible] उनको व्यवस्थित ढंग से [illegible] [illegible] है।

रिपोर्ताज (सूचनिका)

[illegible] [illegible] फ्रेंच है, [illegible] का [illegible] अंग्रेजी शब्द है रिपोर्ट, [illegible] [illegible] के लिए जो रिपोर्ट लिखा जाता है उसमें अतिशयोक्ति और [illegible] होता है किन्तु रिपोर्ताज का विशुद्ध निर्माण साहित्यिक पृष्ठ भूमि पर [illegible] है। [illegible] और [illegible] के अनुसार रिपोर्ताज वह है जिसमें किसी भी [illegible] का ऐसा वर्णन करता कि [illegible] [illegible] पाठक को सहज ही प्रभावित करे। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हजार पंक्तियों [illegible]

द्वितीय महायुद्ध के समय इस नवीन विधा का जन्म यूरोप में हुआ। हिंदी में इसे सूचनिका अथवा 'वृत्तनिर्देशन' कहते हैं। रिपोर्ताज में साहित्यिकता, कल्पना, भावुकता और संवेदना का पुट होता है। उसमें वस्तुगत तथ्य को कलात्मक एवं प्रभावोत्पादक शैली में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि पाठक को तथ्य का भी परिचय हो जाता है और उसे साहित्यिक आनन्द भी प्राप्त होता है। रिपोर्ताज हिन्दी की कहानी तथा निबन्ध के अधिक निकट है। रिपोर्ताज में केवल घटना का तथ्य मात्र वर्णन नहीं होता अपितु प्रस्तुत समस्या का समाधान एवं रोचकता होती है। रिपोर्ताज में विभिन्न घटनाओं का क्रम बद्ध होता है। लेखक को संक्षिप्त शब्दावली में घटना का ठीक ठीक मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करना चाहिए। रिपोर्ट और रिपोर्ताज में अन्तर है। समाचार पत्रों के लिए रिपोर्ट जो भेजी जाती है वह सुनी सुनाई घटना पर भी प्रायः आधारित होती है किन्तु रिपोर्ताज आँखों देखी घटनाओं पर लिखा जाता है। अतएव उसमें कल्पना को कम और तथ्यों को अधिक स्थान मिलता है। लेखक विषय तथा वस्तुस्थिति का पूरा ज्ञान प्राप्त कर तथा तरस्थ युक्त से उस घटना का वर्णन करता है। लेखक में प्रवाह, भावुकता, संवेदना, पर्यवेक्षण शक्ति, संवेदना गुण होने चाहिए तथा सीमित परिधि में अनेक तथ्यों को प्रस्तुत करने की निपुणता और घटना के पात्रों का प्रभावपूर्ण चित्रण करने की सामर्थ्य चाहिए।

हिन्दी में द्वितीय महायुद्ध के बाद ही रिपोर्ताज प्रचलित हुआ। बंगाल के अकाल, आजाद हिन्द सेना, नाविक विद्रोह के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्यकारों ने ममस्पर्शी वर्णन रिपोर्ताज में किया है। रिपोर्ताज विधा के प्रमुख लेखक हैं प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदास सिंह चौहान, अमृतराय, प्रभाकर माचवे, हंसराज रहबर आदि।

यात्रा

प्राचीनकाल से यात्रा वर्णन लिखे जाते हैं। विदेशी यात्री ह्यूएनसांग, इब्नबतूता, टवरनियर, फाह्यान आदि ने इस देश का भ्रमण कर अपने अनुभव शब्दबद्ध किए हैं। यात्रा वर्णन हम दो रूप में मिलते हैं — एक जो इतिहास की सम्पत्ति बन चुके हैं दूसरे साहित्य की सम्पत्ति बने हैं। साहित्यिक यात्रा वर्णनों में लेखक की प्रकृतिगत विशेषताएं प्रतिबिम्बित होती हैं। ऐतिहासिक यात्रा वर्णन में लेखक का व्यक्तित्व उसमें झलकता नहीं, वह तटस्थ की भाँति वर्णन करता है, साहित्यिक यात्रा वर्णन में बाह्य जगत की प्रतिक्रिया से उसके हृदय में जो भावनाएं जगती हैं उन्हें वह व्यक्त कर देता है। इसी कारण

शुष्क विवरण भी सरस बन जाते हैं और पाठक भाव विभोर होकर तन्मय हो जाते हैं। पाठक लेखक की अनुभतियों से रस लेता है, उसे ऐसा लगता है कि वह स्वयं यात्रा कर रहा है।

यात्रा वर्णन पढ़ते समय हम स्वयं यात्रा कर रहे हैं ऐसा जब लगता है तब वह श्रेष्ठ यात्रा वर्णन समझना चाहिए। यात्रा करते समय जो आनन्द, रोमांच विस्मय, अथवा जिन संचारी भावों की अनुभूति लेखक को होती है वही पाठक को होनी चाहिये। यात्रा वर्णन लिखने के लिए निरीक्षण शक्ति यात्रा दृश्यों का संचयन, आकर्षक शैली भाषा प्रभुत्व संवेदनानुभूति, वर्ण्यप्रदेश की संस्कृति, सभ्यता, आचार, रहन सहन वेषभूषा जीवन प्राकृतिक सौंदर्य आदि के सम्बन्ध में जानकारी होना आवश्यक है इनके बिना यात्रा वर्णन नीरस एवं शुष्क हो जायगा। हिंदी में यात्रा वर्णन बहुत कम लिखा गया है। हिंदी में यात्रा वर्णन लिखने वाले प्रसिद्ध लेखक हैं—राहुलसांकृत्यायन भदन्तआनन्द कौसल्यायन रामवृक्ष बेनीपुरी देवेन्द्र सत्यार्थी यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय आदि।

निबन्ध

निबन्ध का आज का वर्तमान रूप पाश्चात्यों की देन है। कारण प्राचीन काल में इस ढंग से गद्य लिखने की प्रवृत्ति बहुत कम रही है। निबन्ध में गद्यकार की वैयक्तिक शैली निखर आती है रामचन्द्र शुक्लजी ने ठीक ही कहा है कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। संस्कृत में गद्य विधान, लेख और प्रबन्ध आदि शब्द निबन्ध के पर्यायवाची के रूप में आते हैं किन्तु आज जो निबन्ध का अर्थ प्रचलित है वह इन तीनों से सर्वथा रीति से भिन्न है। आज हम अंग्रेजी एसे के पर्यायवाची रूप में निबन्ध शब्द का प्रयोग करते हैं। यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिये कि ऐसे शब्द भी अंग्रेजी के आर्टिकल, थेसीस और टाटाईज आदि से भिन्न हैं।

निबन्ध का शब्दार्थ अर्थ है बाँधना। प्राचीनकाल में मुद्रणयन्त्र कागज आदि की सुविधा नहीं थी, लोग अपने विचारों को भोजपत्रों पर लिखकर उन्हें पुस्तक के रूप में बाँध देते थे। इस बाँधने की क्रिया को ही निबन्ध या प्रबन्ध कहा जाता था। कालान्तर में इसका अर्थ परिवर्तित होकर लेख हो गया। इस लेख में अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या ग्रथन होता था। एसे' का प्रथमतः प्रयोग फ्रेंच लेखक मांटेन ने किया। मॉंटेन के उपरान्त बेकन जानसन मेकाले एडिसन, प्रीस्टले आदि ने निबन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

जा स न एस की परिभाषा इस प्रकार दी है—A loose sally of mind and irregular indigested piece of literature not a regular and orderly performance of literature अर्थात निबन्ध सुव्यवस्थित एवं नियमित कृति न होकर मन की विशृंखल अनियमित अपच विचारतरंग की अभिव्यक्ति है ।

डा० भगीरथ मिश्रजी ने निबंध के सम्बंध मे विभिन्न धारणाओं को स्वीकार करते हुये लिखा है निबंध वह गद्य रचना है जिसमे लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दतापूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव सहित सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावो, विचारो और अनुभवो को व्यक्त करता है ।

निबंध की विशेषताएँ अथवा तत्त्व

१—निबन्ध एक लघु रचना है जो अवकाश के समय म सरलता स पढ़ा जाय । निबंध और प्रबंध म वही भेद है जो एसे और ट्रीटाइज मे है । निबंध का विषय और आकार सीमित होता है और प्रबंध का विषय और आकार अपेक्षाकृत विस्तृत होता है । लाक की दार्शनिक निबंध रचना—An Essay on Human understanding सकड़ो पृष्ठो म लिखा गया है । यह अपवाद है । सामान्यतया नियम यह रहा है कि निबंध का विस्तार एक हजार शब्द से लेकर तीन चार हजार । श तक होना चाहिये । निबन्ध म अनेक विषयो का उद्घाटन के लिए अवकाश नहीं रहता । निबंध के लिए गद्य माध्यम ही माध्यम आवश्यक है । पद्य माध्यम स निबंध की मूलभित्ति की तार्किकता, बौद्धिकता आदि को धक्का पहुच जायगा ।

२—निबंध म प्रतिपादित विषय की साधारण चर्चा विवेचना अथवा गम्भीर तर्क देकर विषय निरूपण करने की आवश्यकता नही होती । गम्भीर विवेचना निबंध की प्रकृति के प्रतिकूल होगी । निबन्ध म निर्माण सौष्ठव, कलात्मक प्रवाहमयता और उसकर के व्यक्तित्व की छाप होती है । निबंधकार का लक्ष्य किसी सिद्धान्त स्थापना या शास्त्रिक दुरूह विवेचना करनी नहीं होता । निबन्धकार किसी बात का सिद्ध करने की अपेक्षा उसे ध्वनित करता है । और ध्वनन करने की रीति उसकी वर्णनात्मक न होकर भी बल्कि विचारात्मक होती है ।

३ निबन्ध अपने म एक पूर्ण रचना है । उसके प्रारम्भ मध्य और उपसंहार म तारतम्य और एकरूपता होता है । विषय प्रधान निबंधों म एक प्रकार की व्यवस्था होती है जो प्रारम्भ म शुरू होती है । निबंध में तक

ध्याय क्रम सभी मिलते हैं परन्तु वे चलन वाले नहीं होते। व्यक्ति प्रधान निबन्धों में भी एक सुन्दर आन्तरिक व्यवस्था रहती है।

४ निबन्ध को किसी एक विचार या भाव पर ही केन्द्रित रहना चाहिए, अर्थात इसके लिए कलात्मक ढंग अपनाना जरूरी है। लेखक अपने विचार पाठकों पर बलात लादता नहीं। वह तो रसपूर्ण भाषाशैली द्वारा अपने विचारों का पाठक के मस्तिष्क तक सहज रूपेण पहुचाने की कोशिश करता है। विचारों के साथ भावों का पुट भी निबन्ध में रहता है।

५-निबन्ध में औपचारिकता का अभाव होना है। इसमें लेखक और पाठक का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

६—निबन्ध में भाषा शैली और अभिव्यक्ति की अपनी विशेष महत्ता है। शैली उत्कर्ष के लिये ध्वनि, हास्य व्यंग्य लाक्षणिकता व्यजनमूलकता बहुश्रुतताली अभिव्यक्ति का प्रयोग किया जाता है। इनके द्वारा लेखक रोचकता मनोरजकता निबन्ध में ला सकता है। लेखकीय प्रतिभा से ये बातें चमत्कार युक्त बनकर जगमगाने लगती हैं।

७-निबन्ध लेखन के अनेक प्रयोजन हो सकते हैं। लेखक की आत्माभिव्यक्ति, ज्ञान तथा अनुभवों को प्रषित करना सौन्दर्य भावना की तृप्ति मनोरंजन आदि अनेक उद्देश्यों से निबन्ध रचना होती है।

निबन्धों की स्थूल रूप से दो श्रेणियां हो सकती हैं—(१) विषय प्रधान निर्वैक्तिक निबन्ध (२) व्यक्ति व प्रधान विषयीनिष्ठ अथवा वयक्तिक निबन्ध।

विषय प्रधान निबन्ध (Objective Essays)

विषय निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की न्यूनाधिक मात्रा में छाप रहते हुये भी प्रमुखता विषय को ही मिलती है। लेखक विषय का चयन सावधानी से करता है। विषय के महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही उसका सुसगठित होना भी आवश्यक है। लेखक के मन में शुरू से निबन्ध का प्राथमिक प्रारूप तयार रहता है जिसमें प्रत्येक तथ्य, विचार और तर्क का एक निश्चित स्थान होता है। विषय प्रधान निबन्धों के लिये इन्डक्टिव निगमन अथवा डिडक्टिव आगमन शैली का प्रयोग किया जा सकता है।

वैयक्तिक निबन्ध (Personal Essay)

हडसन ने कहा है The true Essay is essentially personal अर्थात् असली निबन्ध अनिवार्य रूप से वयक्तिक होता है। निबन्ध का चरमोत्कर्ष वयक्तिक निबन्धों में मिलता है। वयक्तिक निबन्ध में लेखक का निजीपन और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति रहती है। पुराने निबन्धों के समान इसमें पाण्डित्य प्रद

ान लडाकूपन नही होता। किसी मत का खडन मडन करने के लिए कवि लेखनी नही उठाता। अतएव इसम निबंध के विषय का महत्त्व नही होता। पहले पाठको को निबन्ध के विषय म रुचि थी, अब निबन्धकार के व्यक्तित्व म होती है। कुशल निबधकार किसी सामान्य विषय पर भी लिखता है। गाडनर ने बडे सुदर शब्दो म इसे प्रकट किया है—It is not so much that you have some thing you must to say as that you must say some thing And after all what does the subject matter Any peg will do to hang your hat an that hat is king अर्थात्—स्पष्ट में हैट टाँगने के लिए कोई खूँटी काम दे सकती है। असली वस्तु है हैट खूटी नही। इसी तरह मन के भाव ही यथार्थ वस्तु हैं विषय नही। सहसा उत्थित कोई भाव कोई घटना बातचीत का प्रसग लेखक के मन मे विचारो की एक शृखला उप स्थित कर देता है जिससे निबन्ध का स्वरूप निर्धारित हो जाता है। किसी जलाशय के किनारे पर बठकर हम छोटा सा कण उसम फेंकते हैं और जल पृष्ठ पर उठने वाली तरंगो को देख सकते हैं। उसी प्रकार किसी भी विषय को लेकर लेखक के अतरग मे उठने वाले विचार विकार को निबन्ध म व्यक्त होते पाते हैं। उसमे हम आनन्द पाते हैं। वयक्तिक निबन्ध मे विषय की अपेक्षा लेखक के व्यक्तित्व उसके स्वभाव उसकी रुचि अरुचि आदि का परि णाम पाठको को मिलता है। इसमे लेखक बाद मे प्रकट होता है। लेखक अपने कलात्मक ढग से दूसरो को जो कुछ बता सकता है वह सब कुछ वयक्तिक निबन्ध मे मिलता है। इतना ही नही बल्कि लेखक का आत्म कथन सौंदय के नियमो का उल्लघन किये बिना निस्सकोच बनेगा उतनी निबन्ध की रोचकता बढनी चाहिये। अर्थात् अपने निकट के मित्रो के साथ गपशप करते समय जिस बेतकल्लुफी से बोलते हैं उसी प्रकार निबन्धकार पाठको से बोलता है। आधु निक निबन्ध म बहुत कुछ सभाषण का ढग होता है। और भाव उसकी आत्मा है। उसम सत्य का मुलम्मा होता है। उसम सहजता, ताजगी, मनोहारिता होनी चाहिये। वह आडम्बरता से रहित होना चाहिये। निबन्ध म ढीलापन और शिथिलता मे भी लेखक की योजकता एव कल्पना आवश्यक है। निबन्ध मे रचना का कलात्मक अभाव का आभास निर्माण करना होता है। इस प्रकार के निबन्ध मूर्खो के प्रलाप नही तो महज शब्दो म सजोये हुए व्यक्तित्व की छाप लेकर बनने वाले सुदर निबन्ध हैं। इस निबन्ध मे लेखक की मन स्थिति स्व च्छन्द रहती है। वयक्तिक निबन्ध का लेखक रचना के कतिपय मापदण्डो की भी अवहेलना कर मानस की तरगो म स्वच्छन्द विहार करना चाहता है। वयक्तिक निबन्ध का लेखक मनस्वी होता है और अपनी मौज म जो कुछ

लिखना है उसमें यदि मकपटता और प्रभावशीलता रहती है तो आश्चर्य की बात नहीं है। लेखक का व्यक्तित्व ही वयक्तिक निबन्धों का केन्द्र बिन्दु है और सारी रचना उसी व्यक्तित्व के आकर्षक से परिवेष्ठित होती है। लेखक का व्यक्तित्व जितना ही असाधारण सुन्दर एव आकर्षक होगा और उसका प्रकाशन जितना ही स्वाभाविक तथा वशिष्ट्यपूर्ण होगा निबन्ध उतना ही सफल और सुन्दर माना जायगा। इस दृष्टि से अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्ध लेखक चार्ल्स लैम्ब का नाम उल्लेखनीय है। वयक्तिक निबन्धों में लेखन की सफाई आवश्यक है। और उसमें कृत्रिमता के लिये कोई स्थान नहीं होता।

निबन्धों के प्रकार

विषय की दृष्टि से निबन्ध का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है विश्व की किसी भी वस्तु, भाव अथवा क्रिया वर्णन निबन्ध में हो सकता है। निबन्धों के चार भेद माने जाते हैं—वर्णनात्मक कथात्मक या विवरणात्मक भावात्मक और विचारात्मक। प्रथम में कल्पना प्रधान तीसरा भाव प्रधान और चौथा विचार प्रधान होता है। इनके अतिरिक्त विश्लेषणात्मक (Expository) या विवादात्मक (Argumentative) आदि निबन्धों के भेद किये जा सकते हैं।

१ वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive Essays)—इसमें किसी घटना या पदार्थ का वर्णन रहता है। वर्णनात्मक निबन्ध समास शैली और व्यास शैली में लिखे जाते हैं। इन निबन्धों का सम्बन्ध प्रायः देश से होता है।

२ विवरणात्मक (कथात्मक) निबन्ध (Narrative Essays)—इस का सम्बन्ध काल से है इसमें वस्तु को गतिशील रूप में देखा जाता है। हिन्दी साहित्य में कथात्मक निबन्ध तीन रूपों में प्राप्त होता है—स्वप्नों की कथा के रूप में, दिवास्वप्न और स्वप्निल भावों का रूप। कुछ निबन्ध आत्मगत शैली में और कुछ कहानी शैली में लिखे जाते हैं। शिकार, पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेशों की यात्रा इत्यादि साहसपूर्ण कृत्यों का वर्णन प्रायः ऐसे निबन्धों में रहता है। इसमें अधिकतर व्यास शैली का प्रयोग किया जाता है।

३ विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध (Reflective Essays)—इस में बौद्धिक विवेचन अधिक होता है। इसमें तर्क का सहारा अधिक लिया जाता है और बुद्धि तत्त्व की प्रधानता होती है। आचार्य शुक्ल जी ने लिखा कि "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पराग्राफ में विचार दबा दबाकर ठूँसे गये हों और एक एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिये हो।" दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक आदि विषयों की विवेचना ऐसे ही निबन्धों में रहती है। ऐसे निबन्धों के लिए

गम्भीर अध्ययन, मनन और जीवन में प्राप्त गम्भीर अनुभवों की आवश्यकता होती है। जीवन का अनुभूति जितनी गहरी होगी उतना यह निबन्ध सफल होता है। हिन्दी में रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास आदि विचारात्मक निबंध के लिए प्रसिद्ध हैं।

४ भावात्मक निबन्ध (Emotional Essays)—भावात्मक निबन्धों में भाव पक्ष की प्रधानता होती है और उनका सम्बन्ध हृदय से अधिक होता है। इसमें रस और भावों की व्यंजना होती है। भावात्मक निबन्धों की रचना प्राय तीन प्रकार की शैलियों में की जाती है—धारा शैली तरंग शैली तथा विक्षेप शैली। मर्मस्पर्शिता, सजीवता ओजस्विता और भाव के अनुसार भाषा का उतार चढ़ाव इन सबके द्वारा लेखक पाठक के मन पर पूरा प्रभाव डालता है। निबन्ध का यह सबसे बड़ा प्रभावशाली रूप है।

प्रकरण ६

दृश्य काव्य-नाटक

काव्य का एक प्रमुख रूप रूपक, नाट्य अथवा जनभाषा में प्रचलित शब्द 'नाटक' है। संस्कृत में काव्येषु नाटकं रम्यम् कहा गया है। नाटक को दृश्यकाव्य इसलिए कहते हैं कि काव्य का साक्षात् न हम केवल कानों द्वारा ही करते हैं किन्तु आँखों द्वारा भी। आँखों द्वारा आनंद हम नाटक से पाते हैं। नाट्य के अर्थ में रूपक शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से होता है। भरत मुनि ने नाट्य शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण संसार के भावों का अनुकीर्तन ही नाट्य है। वस्तुतः नाटक, शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है सात्त्विक भावों का प्रदर्शन। दूसरे अर्थ में नाटक सम्बन्ध नट (अभिनेता) से होता है और उसकी विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को ही नाट्य कहते हैं—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'। इस प्रकार अभिनेता नट से सम्बन्धित होने से नाटक नाटक कहलाता है। नाटक को चम्पू काव्य भी कहते हैं क्योंकि इसमें गद्य पद्य का मिश्रण रहता है।

नाटक का महत्त्व

काव्यभेदों में नाटक प्राचीन और रमणीय है। भारत और यूनान में नाटक का विकास प्राचीन काल से मिलता है। अन्य जातियों की काव्य प्रतिभा का चरम उत्कर्ष इसी काव्य रूप में परिलक्षित होता है। कालिदास, भवभूति, अश्वघोष, शूद्रक संस्कृत के प्रख्यात नाटककार हैं। अरस्तू ने भी अपने काव्य शास्त्र में महाकाव्य की अपेक्षा नाटक को अधिक महत्ता प्रदान की है। नाटक में अल्पविस्तार और साधनों के परिमित उपयोग द्वारा मन पर गहरा प्रभाव डालने की शक्ति होती है। नाटक एक साथ नाटककार, अभिनेता और दर्शक समूह को आनंद प्रदान करने की क्षमता रखता है। एक ही समय में हजारों दर्शकों के हृदय को रसप्लावित कर आनंद प्रदान करने की सामर्थ्य चित्रपट को छोड़कर किसी कला में नहीं है। नाटकों में काव्य, चित्र, संगीत, नृत्य, मूर्तिशिल्प इन ललित कलाओं के साथ ही बढ़ईगिरी, आदि उपयोगी कलाओं का भी संगम देखने को मिलता है। नाटक की महत्ता उसे जो **'पंचमवेद'**

माना जाता है उससे स्पष्ट होती है । नाटक हमारी इच्छाओं की अभिव्यञ्जना है रुद्ध वासनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है और हमारे जीवनानुभवों का विस्तार करता है । नाटक समाज के शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्गों का मनोरंजन करता है । इस प्रकार काव्य भेदों में तथा कलाओं में अपना एक श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।

नाटक की उत्पत्ति धार्मिक कर्मकाण्डों से हुई है । ग्रीस में नाटक का उद्भव डाइनोसिस देवता के समारोह से हुआ, तो ब्रिटेन में ईस्टर के समारोहों पर हुआ । भारत में नाटक की उत्पत्ति वैदिक काल से तथा ब्रह्मा जी से मानी जाती है ।

नाटक के तत्त्व

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व माने हैं—वस्तु नायक और रस । पाश्चात्य आचार्यों ने छः तत्त्व माने हैं—कथावस्तु, पात्र कथोपकथन देशकाल उद्देश्य तथा शैली । प्रथमतः भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रतिपादित तत्त्वों को देखेंगे—

१ कथावस्तु (Plot)—नाटक के कथानक अथवा कहानी को कथावस्तु कहते हैं । नाटककार को उपन्यासकार के समान कथावस्तु का विस्तार करने की स्वतन्त्रता नहीं होती । वह कथावस्तु अधिक विस्तार भी नहीं कर सकता और न आवश्यक सामग्री का समावेश । नाटककार को कथावस्तु का विस्तृत सामग्री से आवश्यक महत्त्वपूर्ण बातों का सञ्चयन करना पड़ता है । नाटक की कथावस्तु—(१) प्रख्यात इतिहास पुराण परम्परागत जनश्रुति के आधार पर—(२) उत्पाद्य नाटककार की कल्पना की उपज अथवा (३) मिश्र जिसमें इतिहास लभ्य और कल्पित दोनों का सम्मिश्रण होता है—हो सकती है ।

कथावस्तु के दो भेद हैं –(१) आधिकारिक (२) प्रासंगिक । आधिकारिक कथा वह जो नाटक के अधिकारी से सम्बन्धित है । नाटक का फल अधिकार कहलाता है और उस फल का भोक्ता अधिकारी कहलाता है । आधिकारिक कथा नाटक की मूल कथा होती है । प्रासंगिक कथा गौण होती है जो आधिकारिक कथा में सहायक होती है । रामायण में राम की कथा आधिकारिक तथा हनुमान की कथा प्रासंगिक होगी । प्रासंगिक कथा के दो भेद होते हैं—(१) पताका (२) प्रकरी । जब प्रासंगिक कथा आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक सम्बन्धित रहती है तो उसे पताका और मध्य में समाप्त हो जाय तो वह प्रकरी कहलाती है । रामायण में हनुमान की कथा पताका और शबरी की कथा प्रकरी है । पताका और पताका स्थान में भ्रम होने की

सम्भावना है। पताका स्थान वह है जिसमें वस्तु अग भावी कथाश को ठीक उसी प्रकार सूचना देता है।

नाटक में आए समस्त कथानक को रगमच पर दिखाया नहीं जा सकता। कुछ अभिनय द्वारा दिखाया जाता है और शेष की केवल सूचना दी जाती है। इस आधार पर कथावस्तु के दो भेद हैं—(१) दृश्य (२) सूच्य। दृश्य कथा वस्तु को अभिनय द्वारा रगमच पर दिखाया जाता है और सूच्य की केवल सूचना दी जाती है। सूच्य कथावस्तु क साधना को अर्थोपक्षेपक कहते हैं। ये पाँच हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अकमुख या अकास्य और अकावतार।

१ विष्कम्भक—जब भूत या भावी कथाश अत्यत सक्षेप में साधारण या मध्यम पात्रों के (पुरोहित, अमात्य कचुकि अथवा मध्यम और नीच) द्वारा सकेत किये जाते हैं तो उसे विष्कम्भक कहते हैं। इसके दो प्रकार-शुद्ध और सकीर्ण। यह नाटक के प्रारम्भ में अथवा प्रारम्भिक अकों के बीच आता है।

२ प्रवेशक—जब कथा का भूत या भावी अश नीच भाषा म नीच पात्रों के द्वारा दो अकों के बीच में अनभिनय कथा भाग की सूचना दी जाती है, उसे प्रवेशक कहते हैं।

३ चूलिका—जब यवनिका (पर्दे) के पीछे से पात्र किसी बात का सकेत करते हैं वहाँ चूलिका होती है।

४ अकास्य या अकमुख—जहाँ किसी अक के अभिनय की समाप्ति पर आगे आने वाले अक की सूचना दी जाती है, वहाँ अकास्य होता है।

५ अकावतार—जहाँ बिना पात्रों को बदले हुए ही, पहले अक म काम करने वाले पात्र, बाहर जाकर फिर रगमच पर आ जाते हैं और आगे वाले अक की सूचना देते हैं-अकावतार हैं।

यहाँ ध्यान म रखना चाहिए कि कथा का नीरस अनुचित, किन्तु महत्त्व पूर्ण अश सूचित किया जाता है और कथा का मधुर, उदात्त भावपूर्ण एव सरस अश प्रत्यक्ष दिखाया जाता है।

कथा सगठन के लिए भारतीय आचार्यों ने कार्यावस्थाएँ सधियाँ एव अर्थ प्रकृतियाँ आवश्यक मानी गई हैं। ये हैं—

अर्थ प्रकृतियाँ	कार्यावस्थाएँ	सधियाँ
१ बीज	१ आरम्भ	१ प्रमुख
२ बिन्दु	२ यत्न	२ प्रतिमुख
३ पताका	३ प्रत्याशा	३ गर्भ
४ प्रकरी	४ नियताप्ति	४ विमर्श
५ कार्य	५ फलागम	५ निर्वहण

अर्थप्रकृतियाँ—कथावस्तु को कार्य की ओर अग्रसर करती हैं। वे नाटक के प्रयोजन फल अथवा लक्ष्य की गतिविधि के सूचक होते हैं।

बीज—बीज मुख्य फल के हेतु का वह कथा भाग होता है जो क्रमश विस्तृत होता जाता है, किन्तु प्रारम्भ मे जिसका कथन केवल थोडे से शब्दो म किया जाता है।

बिन्दु—मुख्य कथा का बीज के द्वारा सूत्रपात हो जाने पर जो भाग कथा को आगे बढाता है, वह बिन्दु है। तल की बिन्दु जैसे जल में फल जाती है वसे ही बिन्दु भी फल जाती है। बिन्दु निमित्त अनन्तर अवान्तर कथा को पुनर्जीवित कर आगे बढाती है।

पताका—जब प्रासगिक कथा आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक सबधित रहती है तो पताका कहलाती है।

प्रकरी—जब प्रासगिक कथा आधिकारिक कथा के बीच में समाप्त हो जाती है तब प्रकरी कहलाती है।

कार्य—जिसके लिए सब प्रयास किए जायें और जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री इकट्ठी की जाय वह कार्य है। जसे रामायण म रावण का वध एकमात्र लक्ष्य है जिसकी ओर सारी क्रियाए अग्रसर होती रहती हैं।

कार्यावस्थाएँ—कार्यावस्थाएँ नायक का प्रयोग नाटक मे वर्णित नायक के व्यक्तित्व के विकास क्रम को ध्वनित करता है। नायक के द्वारा किए हुए कार्यों का क्रमिक विकास दिखाने वाली अवस्थाओं को कार्यावस्थाए माना गया है। य पाँच है—

प्रारम्भ—नायक की अत्यन्त तीव्र इच्छा फलप्राप्ति के लिए व्यक्त होकर जहाँ औत्सुक्य जाग्रत होता है वह प्रारम्भावस्था है।

प्रयत्न—जब फलप्राप्ति के लिए विलम्ब सा प्रतीत होता है तब शीघ्रता पूर्वक जो उद्योग किए जाते हैं (फलप्राप्तिरूप) वे प्रयत्न कहलाते हैं।

प्राप्त्याशा—इसमे अवरोधो निराशा, आशका के साथ फलप्राप्ति की थोडी सी आशा दिखलाई देती है।

नियताप्ति—इसमे फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है परन्तु कार्यव्यापार चलता रहता है।

फलागम—इसमें फलप्राप्ति हो जाती है।

डा० भगीरथ मिश्र जी ने इन कार्यावस्थाओ की तुलना पाश्चात्य नाट्यशास्त्र म निरूपित पाँच अवस्थाओ Exposition, Incident crisis Denoument और Catastrophe से की है और अद्भुत साम्य दिखाया है।

सन्धियाँ—संस्कृत नाटक में सन्धियो का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। नाटक

में कुछ स्थलों पर चमत्कार और अप्रत्याशित-इच्छा पूर्ति होती है–उन विभिन्न स्थलों को विभिन्न संधियों में सम्पादित किया जाता है।

मुख–मुख संधि नाटक के उस भाग का वह स्थान है जहाँ प्रारम्भ नाम की अवस्था के साथ संयोग होने से अनेक अर्थों और रसों के व्यंजक बीज की उत्पत्ति होती है।

प्रतिमुख–इसमें कथा का बीज थोड़ा स्पष्ट और थोड़ा अस्पष्ट रूप में विकसित हुआ जान पड़ता है। यहाँ प्रयत्नावस्था और बिंदु अर्थप्रकृति का समाहार का अवसर करता है।

गर्भ–इसमें किंचित् प्रकाशित बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव, तथा अन्वेषण होता रहता है। इस संधि में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थप्रकृति रहती है।

विमर्श–इसमें गर्भसंधि की अपेक्षा बीज का विस्तार होता है किन्तु इसमें फलप्राप्ति में शाप, क्रोध आदि विघ्न उपस्थित होते हैं। इसमें कुतूहलपूर्ण संघर्ष और विमर्श की दशाएँ उपस्थित होती है अतः इसका नाम विमर्श संधि है। इसमें प्रकरी अर्थप्रकृति और नियताप्ति होती है।

निर्वहण अथवा उपसंहृति–यह अन्तिम संधि है। इसमें पूर्वोक्त चार संधियों में वर्णित प्रयोजनों की सिद्धि होकर फल की प्राप्ति भी हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थप्रकृति आती है। अतः इसमें निर्वहण संधि पूर्ण नाटक का उपसंहार है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्वों से, अवस्थाएँ कार्यव्यापार से और संधियाँ रूपक रचना से सम्बन्धित हैं। वे एक दूसरे के विरोधी न होकर अनुकूल और सहायक हैं।

कथोपकथन की दृष्टि से कथावस्तु के सर्वश्राव्य, अश्राव्य, नियतश्राव्य ये तीन भेद किए गए हैं।

(१) सर्वश्राव्य–इसे सब लोग सुनते हैं। इसे प्रकट या प्रकाश कथन भी कहते हैं।

(२) अश्राव्य–इसे आत्मगत या स्वगत भी कहते हैं। यह किसी अन्य के सुनने के लिए नहीं होता। अश्राव्य या स्वगत की अतिशयता अस्वाभाविक है और इससे नाटक की रोचकता में बाधा पड़ती है। कतिपय स्थलों पर और आत्मप्रकाशनार्थ नाटक में स्वगत आवश्यक हो उठते हैं, चाहे कि वे स्वाभाविक न हों।

(३) नियतश्राव्य–जहाँ नाटक का कथोपकथन कुछ पात्रों के सुनने के लिए होता है और कुछ के लिए नहीं होता। इसके दो भेद हैं–(१) जनान्तिक

सवथा काल्पनिक भी होता है। आज के नाटककार का आग्रह कथावस्तु की मौलिकता पर अधिक होता है। नाटककार से यह अपेक्षा होती है–विशेषत ऐतिहासिक नाटककार से कि वह अपने विषय से पूणतया परिचित हो। नाटक का कथानक सरल और अभिनयतायुक्त हो कि जिसे साधारण व्यक्ति भी प्रस्तुत कर सके। जीवन की घटनाओ से सचयन कर कथानक रोचक बनाने की दृष्टि रहे। अच्छे कथानक मे अन्विति और सुसम्बद्धता होती है। घटना क्रम पर प्रेक्षक का विश्वास जम जाना आवश्यक है। कहते हैं A Good plot is a conspiracy against the Reader अथात अच्छा कथानक पाठकों के विरुद्ध एक षडयन्त्र होता है। कथानक की गति और तीव्रता लक्ष्य की ओर बढ़ानी चाहिए और सक्षिप्तता गुण नाटक का अनिवाय गुण है। कथावस्तु सगठन के लिए प्रारम्भिक अवस्था (Exposition) सघर्ष विकास (Rising Action) चरम सीमा (Climex) सघष का ह्रास (Falling action या Denouement) उपसहार या परिणति (Catastrophe) इन पाँच अवस्थाओं का उल्लेख किया जाता है। प्राचीन नाटको मे इन पाँच अवस्थाओ को पाँच अक मे रखने की प्रथा थी अतएव नाटक मे पाँच अक होते थे आज ऐसा कोई बन्धन नही है। उदाहरण के लिए आधुनिक नाटक मे पूर्वदीप्ति (Flash back) भी प्रयोग किया जाता है। कथानक मे स्वाभाविकता एव सामान्यता होनी चाहिए और सयोग का प्रयोग कम होना चाहिए यदि हो तो उसमे सत्याभास होना चाहिए। नाटक मे अभिनात अश अधिक और सूचित कम हो। प्रभावोत्कर्ष के लिए नाटककार कुछ युक्तियाँ (Devices) का प्रयोग करता है जिनमे विरोध (Contrast) बहुत उपयोगी है। आश्चय (Surprise) का भी नाटककार प्रयोग करता है। ऊपर से सज्जन दिखाई देने वाला जब दुजन प्रमाणित होता है अथवा लडकी लगने वाली अन्त मे लडका साबित होती है तो प्रेक्षकों को आश्चय होता है। नाटककार नाट्य व्यग्य (Dramatic Irony) का भी प्रयोग कर प्रेक्षकों को प्रभावित करता है।

चरित्र चित्रण—पात्र स्पष्ट सरल तथा भावित्मान होने चाहिए। नाटक के पात्र अधिक मनप्रत्यक्षीय होने चाहिए ताकि प्रेक्षक उनके गुण दोषो व्यक्तित्व से परिचित हो सकें। स्वगत भाषणो द्वारा पात्रो के अतमान का प्रकाशन होता है आज स्वगत कथन को अस्वाभाविक मानकर त्यागा जाता है। किसी विश्वासपात्र एक दूसर पात्र की सृष्टि करके उ ह स्वगत बातें उससे कही जाती हैं। दूसरे पात्रो के मतप्रकाश भी नाटककार किसी पात्र की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। नाटक के पात्र विश्वसनीय लगने चाहिए। नाटकों मे–वर्ग के प्रतिनिधि (types) और व्यक्तिगत (Individual) दो

दो प्रकार के प्राय पात्र मिलते हैं। आज के नाटकों में गतिशील और व्यक्ति पात्रों को ही महत्व दिया जाता है क्योंकि मानव स्वभाव की अनेकरूपता एव वैचित्र्य पर प्रकाश डाला जा सकता है। मानव स्वभाव के वैचित्र्य के कारण सघर्ष निर्माण होता है, और यही नाटक का प्राण है। चरित्र चित्रण नाटक का स्थायी और सवप्रधान तत्व है। चरित्र चित्रण का सबसे बडा प्रभाव दर्शकों पर पडता है। कथानक की भाँति चरित्र चित्रण भी सक्षिप्त होना चाहिए। नाटक म पात्र जितने कम होंगे उतना नाटक प्रभावशाली रहेगा।

कथोपकथन

कथोपकथन की भाषा सरल शिष्ट और पात्रों के स्तरों के अनुकूल होना चाहिए। नाटक के दर्शक की आयु मनोविज्ञान की दृष्टि से चौदह बरस की होती है अतएव भाषा म कठिनाई अथवा अपरिचित शब्दों की प्रचुरता नही होनी चाहिए। नाटक सामान्य जनता तथा विद्वत्‌जनों के लिए लिखा जाता है अत सामान्यों की आकलन शक्ति का ध्यान भी रखना आवश्यक है। कथोपकथन म कोरी चर्चा अथवा किसी सिद्धात प्रतिपादन के लिए लम्बे भाषण नाटक को नीरस बनाते हैं। सवादों में न अधिक आलकारिता हो अथवा न अधिक काव्यात्मकता। काव्य-अलकार की अधिकता भाषा म सवादों म और नाटकों म कृत्रिमता लाती है। वस्तुत कथोपकथन ही नाटक को नाटक बनाते है। बोल्टन का मत प्रसिद्ध ही है—A play is its dialogue सवाद निष्प्राण नही होने चाहिए। सवाद अभिनेता जब बिना अटके सरलतापूर्वक बोल लेता है तब वे सफल सवाद माने जाते हैं। विषय के अनुरूप सवादों म विविधता होनी चाहिए। सवादों की भाषा प्रतिदिन बोली जाने वाली भाषा से निराली होनी चाहिए। लेखक म बोलचाल की भाषा और का वास्तव भाषा का सम्मिश्रण कर नाटककार प्रभावशाली भाषा का निर्माण करता है। और वह दैनदिन भाषा से अधिक आकर्षक सक्षिप्त और प्रभावशाली होनी है। कथोपकथन सूचना देकर कथानक को आगे बढाता है तथा अपने कलात्मकता एव सौंदर्य गुणों से पाठकों को आनन्द प्रदान करता है। यह ध्यान म रखना भी आवश्यक है कि कथोपकथन अभिनय से सम्बन्धित है। अत कथोपकथन का अभिनय के उपयुक्त होना अनिवार्य है। नाटकीय कथोपकथन अधिक चुस्त एव गतिशील रहते हैं।

देशकाल वातावरण

नाटक के वास्तविक रूप को समझने के लिए देशकाल वातावरण का चित्रण आवश्यक है। देशकाल के चित्रण के अतर्गत चित्रित युग की विशेष सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सास्कृतिक परिस्थितियों पर विचार

होता है । नाटककार का–विशेष रूप से ऐतिहासिक नाटककार का यह दायित्व होता है कि वह युग विशेष की योग्य अवतरणा अपने नाटक में लाए । अन्यथा देशकाल वातावरण के विपरीत चित्रण से नाटक में अस्वाभाविकता आ जाती है । भगवान राम को हम नेकटाई हैट पहना नहीं सकते ।

संकलन त्रय अथवा नाट्य अन्वितियाँ (Three unities)

देशकाल वातावरण के साथ संकलन त्रय पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों ने इसे महत्व देकर विवेचना की है । भारतीय नाटककारों ने इसे आवश्यक नहीं माना । संकलन त्रय में स्थान संकलन, काल संकलन, और कार्य संकलन आते हैं ।

स्थान-संकलन (Unity of place)—इसमें यूनानियों के अनुसार रंगशाला (पट आदि) का दृश्य आदि से अंत तक एक ही रहना चाहिए । अर्थात नाटक का सारा दृश्य एक स्थल पर एक ही दृश्य में घटित होना चाहिए । यूनानियों ने गीत गाने वाले नट नाटक के अंत तक रंगभूमि पर रहते थे और जब वे गाते थे तो कोई दृश्य परिवर्तन नहीं किया जाता था इसीलिए स्थानान्विति का नियम बनाया । नाटक में केवल एक ही दृश्य और स्थल (बम्बई) दिखाया जा सकता है । यदि नाटक में बम्बई पटना कानपुर दिखाया जाय तो वह बात स्थान संकलन के विरुद्ध होगी । आधुनिक नाटक में नाटक का सारा व्यापार किसी हाल में नियोजित कर स्थान संकलन का पालन किया जाता है । स्थल संकलन पालन से विविधता वर्णन पर बंधन पड़ जाता है और कथावस्तु का उन्मेष न होकर वह सीमित हो जाती है । भारतीय नाटकों में विभिन्न पर्दों के दृश्यों एवं चित्रों द्वारा विभिन्न स्थलों के दृश्यों का प्रदान सूचित किया जाता था और अस्वाभाविकता न हो इसीलिए विष्कम्भक अथवा प्रवेशक आदि द्वारा दृश्य घटनाओं आदि की सूचना दी जाती थी । यूनानियों की यह स्थान संकलन की व्यवस्था कलादृष्टि से दूषित और अस्वाभाविक था । अतः यूनानियों का यह दृष्टिकोण अत्यन्त प्रारम्भिक मानना चाहिए ।

काल (समय) संकलन (Unity of time)—काल संकलन का अर्थ है जो दृश्य वास्तव में हुआ हो उसका अभिनय भी उतने समय में होना चाहिए । प्राचीन यूनानी नाटक निरंतर चलते थे । आजकल उतनी देर तक बैठना दर्शकों के लिए असम्भव है । अरस्तू ने यह नियम दिया था चौबीस घण्टों में जो दृश्य होते हैं अथवा हो सकते हैं उन्हीं का समावेश अभिनय में होना चाहिए । चौबीस घण्टों का ही क्या और दो वर्षों का क्या नहीं इसका उत्तर अरस्तू ने नहीं दिया । चौबीस घण्टों का दृश्य तीन घण्टों में दिखाना काल संकलन नहीं है । यूनानी अथवा फ्रांसीसी इनका काल संकलन का अर्थ ग्रहण किया जाय तो आधुनिक नाटक की रचना करना ही असम्भव हो जायगा । इसके साथ ही

जीवन के व्यापक स्वरूप अनेक वर्षों के बीच होने वाली घटनाओं का प्रदर्शन भी नही हो सकता। भारतीय नाटकों में इन घटनाओं को दृश्य अथवा अंकपरिवर्तन से दिखाया जाता था। शाकुंतल उत्तर रामचरित में अंक परिवर्तन द्वारा दीर्घ कालावधि को सूचित किया गया है। रूपक के दस प्रकारों में छठे प्रकार व्यायोग में केवल एक अंक होता था और उसमें एक ही दिन का चरित्र रखा जाता था। अतएव यूनानी काल संकलन की धारणा उनके प्रारम्भिक अवस्था की ही द्योतक है।

कार्य संकलन (Unity of Action) कार्य की एकता का अर्थ है कथा वस्तु की अविच्छिन्नता और एकरसता। प्रमुख घटनाओं की पोषिका ही अन्य घटनाएँ और कार्य हो। अनेक नाटकों में असंगत हास्य प्रधान कथा मूल कथा को जोड़ने से नाटक की प्रभविष्णुता क्षीण हो जाती है। वस्तु संकलन की दृष्टि से यह अनुचित है। आधिकारिक वस्तु के साथ सुसंगत रूप में चलने वाली उसकी पोषिका और अस्वाभाविक विचित्र न लगने वाली प्रासंगिक कथा यूनानी तो मान्य नही करेंगे किन्तु भारत में कार्यावस्थाएं अर्थप्रकृतियां और पंचसंधियों द्वारा कथावस्तु को सुसंगठित बनाकर स्वीकारा गया है।

ग्रीक नाटक सादे और सरल थे। उनका रंगमंच, रंगशाला उन्नत नहीं थी। अतएव उनका संकलन त्रय का सिद्धांत प्राथमिक अवस्था की ही द्योतक है। भारत में एकरसता न आए इसीलिए पर्दे, दृश्य, अंक आदि के द्वारा काम लिया गया और अनेक स्थलों, दीर्घ कालावधि एवं विभिन्न वस्तु व्यापारों को प्रदर्शित किया गया। शेक्सपियर को भी संकलन त्रय का पालन करना असंभव हो गया। आधुनिक वैज्ञानिक प्रगत जगत में पर्याप्त विकसित रंगमंच के काल में संकलन त्रय का पालन करना अप्रगत काल का द्योतक समझा जायगा। यूनानी दृष्टिकोण संकीर्ण सीमित और रूढ़ है जबकि भारतीय दृष्टिकोण प्रगत विशाल व्यापक और विविधता को लेकर उत्कर्षित है।

भाषा और शैली—नाटक की भाषा दैनन्दिन जीवन की भाषा से पृथक और अतिशय कल्पनामय तथा अलंकारिक भाषा से दूर होनी चाहिए। काव्यात्मक और दैनंदिन भाषा का संगम कर ही प्रभावशाली ऐसी नाटक की भाषा हो सकती है। भाषा में कृत्रिमता, अस्वाभाविकता, निष्प्राणता नही चाहिए बल्कि सजीवता, सरसता, व्यंजकता होनी चाहिए। प्रत्येक नाटककार की अपनी अपनी शैली होती है।

उद्देश्य—(प्रयोजन) साहित्य का जो उद्देश्य है वही नाटक का होता है। आत्माभिव्यक्ति, यथार्थ चित्रण, जीवन की व्याख्या करना नैतिक आदर्श उपस्थित करना, आदि विविध उद्देश्य कहे जा सकते हैं। नाटककार अपना

उद्देश्य कथावस्तु पात्रो अथवा कथोपकथन द्वारा ही प्रकट कर सकता है।

नाटक रचना विधान

नाटक एक अभिनय रचना है। और अभिनेय रचना का लक्ष्य रगमच पर कथानक का प्रत्यक्षीकरण होता है और लोग उसे आनद उठाते है। अनभिनेय रचना का लक्ष्य यह नही होता। दृश्य काव्य देखने के लिए दर्शक तीन चार घण्टे सरलता से बैठ सकता है इसके बाद सरस रचना भी उसे असह्य हो उठती है। इसीलिए दृश्यो अथवा अको की भरमार न करते हुए नाटक का स्वरूपाकार तीन घण्टो मे अभिनीत किया जा सके इतना ही बडा होना चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि नाटक का आकार अधिक से अधिक एक सौ दस से बीस पृष्ठो तक हो। नाटककार को दृश्यो और अको के सम्बन्ध म भी ध्यान रखना चाहिए कि उनका विभाजन सतुलित हो ताकि नाटक की रोचकता कम न हो और दर्शक भी ऊब उठें। प्रथम परिचयात्मक अक बडे हो सकते हैं किन्तु चरम सीमा अथवा नियम नियताप्ति या फल प्राप्ति के आस पास के अक छोटे होने चाहिए क्योकि अन्त के अक बडे होने तो वे बोझिल बनकर दर्शको को अरोचक लगेंगे। नाटक मे दृश्यो की सजावट दृश्य के अनुरूप होनी चाहिए। गरीब किसान के घर पर रेडियो सेट सोफा सेट आदि नही दिखाया जा सकता। इसके लिए अनुरूपता और औचित्य का ध्यान रखना जरूरी है।

नाटक का एक प्रमुख उद्देश्य क्लात श्रा त समाज का मनोरजन करना है। रजनप्रधान काव्य म रस की अवस्थिति रहती है। रसानुभूति साधारणीकरण की अवस्था म हो सकती है। और नाटक की सफलता साधारणीकरण पर निभर होती है। साधारणीकरण अवस्था म दर्शक को ममत्व परत्व आदि का बोध नही होता वह तो रसलीन और रगमच के पात्रो से तादात्म्य प्राप्त करता है। नाटककार को एसी भावपूर्ण और मार्मिक स्थितियो की योजना पर दर्शको का उससे तादात्म्य स्थापित हो जाए। जो नाटक हमारी तर्क बुद्धि को अर्ध सुषुप्त कराकर हमे आत्मविभोर कर देता है और रगमच के पात्र वास्तविक हैं ऐसा सत्याभास निर्माण करता है वह सफल नाटक है।

नाटक म क्रिया व्यापार का प्रवेग और प्रवाह बना रहता है और उससे अभिनय म एक प्रगति बनी रहती इसके अभाव म नाटक निकृष्ट होने की सभावना होता है। सवादो म भी मौलिकता रोचकता, स्वराबुद्धि, चुटीलापन मार्मिकता होनी चाहिए और कथोपकथन भी पात्रानुकूल सरल, स्वाभाविक सक्षिप्त आदि होने से नाटक का अभिनय अधिक स्वाभाविक लगता है। कभी कभी नृत्य और गीत भी निष्प्राण नाटकों म प्राण फूककर उन्हे सजीव बना

जेते हैं। आजकल गद्य नाटकों में भी पार्श्व संगीत (Back Round Music) से सरस बनाने का यत्न किया जाता है।

नाटक के भाव उदात्त और व्यापक हों, तो अधिक अच्छा रहता है। नाटक की भाषा प्रवाहमयी सरल, प्रभावशाली और कुछ अंश तक साहित्यिक हो तो भाव और भाषा के कारण दर्शकों के उसमें तन्मय होने में सहजता रहती है। प्रसाद के नाटकों में दार्शनिकता आ जाने से अभिनय को धक्का पहुँचा है। हमारे प्राचीन नाटकों में वध, चुंबन, शाप, मृत्यु आदि बातें वर्जित थीं। आधुनिक नाटक की दृष्टि में रखते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि अश्लील और बीभत्स दृश्यों को वर्जित करना चाहिए।

आधुनिक नाटकों में ध्वनि, प्रकाश, रंग, यंत्र आदि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का भी उपयोग किया जाता है। नाटककार को इन बातों को भी नाटक लिखते समय अथवा अभिनीत करते समय निर्देशक को ध्यान में रखना चाहिए। नाटककार लेखन में इनके संकेत भी दे सकता है।

रूपक के भेद

संस्कृत साहित्य में रूपक और उपरूपक ये दो नाट्य विधाएँ मिलती हैं। रूपक नाट्य के भेद कहे गए हैं और उपरूपक नृत्य के। रूप के दस भेद हैं— नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम, और ईहामृग।

१ नाटक—रूपक के भेदों में प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण नाटक है। नाट्य शास्त्र के अधिकांश अभिनय सम्बन्धी लक्षणों का समावेश इसमें हो जाता है। नाटक में नान्दी आदि पूर्वरंग से सूत्रधार द्वारा प्रारम्भ होकर बाद में नाटक शुरू होता है। नाटक की कथावस्तु का चुनाव इतिहास से किया जाता है। आधिकारिक कथा का नायक राजा, राजर्षि, दिव्य होकर वह सर्वगुण सम्पन्न अथवा देवोपम गुणों वाला होता है। नाटक पाँच अंक से दस अंकों तक का हो सकता है। दस से अधिक अंकों वाला नाटक महानाटक कहा जाता है। नाटक का प्राण रस है। शृंगार और वीर अंगीरूप में तथा अन्य अंग रूप में वर्णित किये जाते हैं। अंकों का क्रम विन्यास गोपुच्छ शैली पर होना चाहिए। क्रमशः अंकों का छोटा हो जाना ही गोपुच्छ शैली है। कार्यावस्थाएँ, अर्थप्रकृतियों और पंच संधियों के संगठन द्वारा कथावस्तु का संगठन कार्य सम्पन्न होता है। नाटक का अभिज्ञान शाकुन्तल उत्तम उदाहरण है।

२ प्रकरण—प्रकरण की कथावस्तु काल्पनिक होती है। इसका नायक ब्राह्मण, वैश्य, मंत्री होता है। उसका धीर प्रशान्त होना आवश्यक है। नायिका कुलीना अथवा वेश्या हो सकती है। प्रकरण प्रायः अन्य बातों में नाटक के

समान होता है। अक पाँच से दस तक होते हैं। इसमे शृगार रस प्रमुख होता है। 'मृच्छकटिक' इसका उदाहरण है।

३ भाण-इसकी कथावस्तु कल्पित होती है और इसमे एक अक और एक ही पात्र होता है। यह पात्र आकाश की ओर देखकर बातें करता है और उसमे अपने तथा दूसरों के धूर्ततापूर्ण कृत्यों का वर्णन करता है। इसमे भारती कदाचित् कौशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है।

४ प्रहसन-प्रहसन और भाण मे वस्तु सधि लास्य आदि समानरूप से होते हैं। यह हास्य प्रधान होता है। प्रहसन के तीन भेद हैं—शुद्ध विकृत और सकर। शुद्ध में तपस्वी या सासी अथवा पुरोहित विकृत मे नपुसक कामुक तथा कचुकी और सकर मे धूर्त व्यक्ति नायक के रूप मे आते हैं। प्रहसन मे एक अक होता है और निर्वहण सधियाँ रहती हैं।

५ व्यायोग-यह भी एकाकी होता है। इसमे एक ही कथा होती है और धीरोदात्त राजर्षि अथवा दिव्यपुरुष होता है और कथानक इतिहास एव पुराण प्रसिद्ध होता है। इसमे युद्ध होता है पुरुष पात्रो की प्रधानता और स्त्री पात्रो का अभाव रहता है।

६ वीथी-इसकी कथावस्तु कल्पित होती है और एकाकी होकर शृगार रस की प्रधानता होती है। इसमे एक या दो पात्र होते हैं और नायक मध्यम श्रेणी का होता है। इसमे आकाश भाषित का ढग अपनाया जाता है।

७ समवकार-इसका इतिवृत्त पौराणिक देवताओ तथा राक्षसो से सम्बन्धित होता है। विमर्श सधि को छोडकर सभी सधियो की योजना की जाती है। वीररस की प्रधानता होती है। और तीन अक होते है। उदात्त दिव्यगुण वाले बारह नायक होते हैं और प्रत्येक को प्रथक पृथक फल मिलता है। कई नायको के प्रयोजन एक साथ समवकीर्ण रहने से इसे समवकार कहते हैं। कैशिकी वृत्ति का कम शेष सभी वृत्तियो का इसमे प्रयोग होता है।

८ डिम-इसके लिए डिम्ब और विद्रोह शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। डिम का अर्थ है सघात। सघात का अर्थ है समूह। इसमे नायको के क्रिया सघात का प्रदर्शन होता है अतएव इसे डिम कहते हैं। इसमे चार अक होते है और विमर्श को छोडकर सभी सधियाँ और शृगार हास्य रस को छोडकर शेष सभी रसो की प्रतिष्ठा होती है। इसमे नायक देव गधर्व महासर्प राक्षस आदि से नायक और भूतप्रेतादि सोलह उद्धत पात्र होते हैं। जादू माया, छल, सग्राम का वर्णन होता है।

९ अक-इसकी कथावस्तु कल्पना का सम्मिश्रण की हुई इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसमे एक अक और करुण रस की प्रधानता होती है। नायक साधा

रण पुरुष रहता है और स्त्रियों का विलाप का वर्णन होता है।

१० ईहामृग–इसकी कथावस्तु इतिहास और कल्पना मिश्रित होती है। इसमे चार अंक और तीन सधियाँ होती हैं। नायक और प्रतिनायक की कल्पना इसमे की जाती है। नायक और प्रतिनायक अलभ्य दिव्य नायिका पाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु युद्ध नही होता। नायक प्रतिनायक दोनों धीरोदात्त होते हैं। शृगार रस इसम प्रस्फुटित रहता है।

उपरूपक के भेद

उपरूपक के अठारह भेद हैं –नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सटटक, रसिक का य उल्लाप्य, प्रस्थानक, नाटयरासिक प्रेंखण श्रीगदित, सलापक शिल्पक, भाणिका, हल्लीश, विलासिका, दुर्मल्लिका प्रकरणिका इन पर हम क्रमश विचार करेंगे –

१ नाटिका–भरतमुनि इसे नाटी भी कहते हैं। और नाटिका की उत्पत्ति नाटक और प्रकरण के योग से हुई है ऐसा मानते हैं। इसम चार अक होते हैं और शृगार रस रहता है। इसम स्त्रीपात्रो की बहुलता होती है और नायक कोई धीर ललित राजा होता है और नायिका कुल रमणी कन्या होती है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है।

२ त्रोटक–कुछ आचार्यों न इसे नाटक का ही एक भेद माना है। इसम लौकिक और अलौकिक तत्वो का सम्मिश्रण होता है। शृगार रस प्रधान होता है। इसम विदूषक होता है।

३ गोष्ठी–इसमे एक अक होता है और पाँच छ सामा य स्त्रीपात्र और नौ दस पुरुष पात्र रहते हैं। शृगार का आधिक्य होता है।

४ सटटक–यह नाटक का एक प्रकार है जो नृत्य पर आधारित होता है। इसमें अक नही होते और मागधी शौरसेनी प्राकृतो का प्रयोग होता है। इसके अक यवनिका कहलाते हैं और इसम अद्भुत का प्रधानता होती है।

५ रासक–इसमे पाँच पात्र तीन सन्धियाँ कई भाषाए प्रसिद्ध नायक और नायिका और एक अक होता है।

६ का य–इसम एक अक होता है, गीतो का प्रचुरता और हास्य रस की प्रधानता होती है।

७ उल्लाप्य–इसके पष्ठभूमि म सगीत होता है और युद्ध प्रधान होता है। कथानक अलौकिक होता है, नायक धीरोदात्त और चार नायिकाएँ होती है।

८ व्यवस्थापक–इसम एक दासी नायिका, दस नायक, दो अक और दीन चरित्रो का आधिक्य होता है।

९ नाटयरासक–शृगार एव हास्य का मिश्रण, एक अक सुन्दरी नायिका इसमें ये बातें होती हैं।

१० प्रेंखण–इसम एक अक और नायक दीन पुरुष रहता है।

११ श्रीगदित–इसकी प्रसिद्ध कथा में सवत्र श्री श॰ का प्रयोग होता है। नायक धीरोदात्त होता है और एक अक होता है।

१२ सल्लापक–इसमे चार तक अक होते है। नायक धूत पाखण्डी होता है और सग्राम आदि का वणन रहता है। शृगार रस की प्रधानता होती है।

१३ शिल्पक–इसमे चार अक होते हैं। नायक ब्राह्मण होता है। शा त और हास्य रस को छोडकर शष सभी रसा का प्रयोग होता है।

१४ भाणिका–इसम एक अक नायक मूख, चतुर नायिका और हास्य रस की प्रधानता होती है।

१५ हल्लीश–इसम एक अक, स्त्रीपात्रो की बहुलता, उदात्त नायक और सगीत की प्रधानता होती है।

१६ विलासिका–इसम एक अक नायक गुणहीन और हास्यरस की व्यवस्था होती है।

१७ दुमल्लिका–इसके चार अक होते हैं। नायक हीन जाति का और पहला अक तीन नाडियो का होता है।

१८ प्रकरणिका–यह प्रकरण के समान होता है। नायक और नायिका वश्य जाति से सम्बधित होते है।

नाटक के भेद

नाटको के भेद विषय शैली एव रगमच के विचार से किए जा सकते हैं— विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक, पौराणिक सामाजिक, राजनीतिक, समस्या मूलक आदि रगमच की दृष्टि से अभिनेय और अनभिनेय अर्थात पाठय शैली की दृष्टि से रस प्रधान और, अभि यजना शैली युक्त–प्रसादादि के नाटक–भेद होते हैं। पाश्चात्य विद्वानो ने त्रासदी कामदी मलोड्रामा हाराइड ड्रामा समस्या नाटक विचारप्रधान नाटक निभाप्र या प्रचारात्मक नाटक एतिहासिक नाटक ट्रजी कामडी प्रतीकात्मक नाटक आदि नाटक के भद किए है। हम कामदी और त्रासदी पर विचार करेंगे—

कामदी—(Comedy) (सुखान्त नाटक)

अग्रजी के Comedy श द के लिए कामदी श द ध्वनि साम्य के आधार पर प्रयुक्त हाना है। हि दी म कामडी के लिए सुखा त नाटक श द प्रयोग अधिक उचित होगा। प्लेटो के अनुसार कामदी के तत्त्व—मिथ्या अहभाव हास्य उत्पन्न करने का गुण और द्वष ज य हप। कामदी म हास्य तब उत्पन्न हाना जब हम पात्रो के साथ सहानुभूति रखत हैं जिनके दोषा का उद्घाटन किया जाता है। कामदी म व्यक्तिगत व्यग्य और कुरुचिपूर्ण उपहास वज्य है निष्पाप

हास्य अपेक्षित है । कामदी की आत्मा विरोध मे होती है—जैसे कि शूरता की डींग हाँकने वाला अन्त मे कायर प्रमाणित हो । प्लेटो ने कामदी को निम्न श्रेणी का माना है । उसने लिखा है—It was fit only for slaves and strangers अरस्तू न प्लेटो के इस विचार का निराकरण किया है । अरस्तू ने आंगिक अभिव्यक्ति, चरित्र, शैली संगीत मधुरता (Melody) दृश्यविधान को महत्त्व दिया है । कामदी का आनन्द मानव को मूलता या दोष देखकर उत्पन्न होता है—यह दोष घृणास्पद नही होना चाहिए । हास्य के कारण आनन्द दायक होने चाहिए— The causes of loughter must be pleasent nemely Persons, words and deeds विसंगति से भी हास्य निर्माण होता है । हास्यनिर्मिति के कारण सारांश रूप म निम्नलिखित हैं—शारीरिक विचित्रता या विकृति, पोशाक का बेढंगापन, चाल मे बेहूदगी, गलत या विचित्र भाषा प्रयोग अनपेक्षित चारित्रिक विशेषताएं, परिस्थितियाँ और प्रसग, आचरण की विसंगति (incongruity), इन बातो से आनंद प्राप्त करने के कारण भी इसी प्रकार दिए जाते हैं । (१) हम नाटक के पात्रों से स्वयं को अधिक समझदार सुसंस्कृत समझते हैं । (२) नाटक के द्वारा हमारी भावनाओं का विवेचन होता है । (३) कामदी के पात्रो की विसंगति, दोष म हम अपने दोषो का आत्मानुभव करते हैं । (४) हम हँसकर अपने दोषों को टाल देते हैं, उन्हें महत्त्वहीन समझते हैं और विचार करते हैं वे दोष सुधारे जा सकते हैं । (५) कामदी कुछ न कुछ सीख देती है जो आनन्ददायक होती है ।

कामदी की विशेषताएँ

वस्तुत सुखान्त नाटकों का स्वरूप थोडा सा अस्थिर और अनिश्चित होता है, प्राचीन आचार्यों ने इस पर विस्तारपूर्वक नही लिखा है कदाचित् कामदी को वे अल्प महत्त्व प्रदान करते होंगे । कामदी निम्नवय के जीवन की अभिव्यक्ति है और जन साधारण के मनोविनोद की वस्तु है यह विचारधारा कामदी की महत्त्व हीनता को स्पष्ट करती है । कामदी का लक्ष्य केवल हास्य निर्मिति ही नहीं होता है । दस रूपकों मे से प्रहसन के सदृश यह ध्येय है । कामदी म हास्य और आनन्द का समन्वय होता है । केवल कोरी हंसी उच्च कोटि के सुखान्त नाटकों का उद्देश्य नही रहता । कामदी से प्राप्त आनन्द सन्तोष तुल्य होता है । कामदी का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही आनन्द और उत्साह से रहता है । डॉ॰ राम अवध तिवारी न लिखा है कि प्राचीन यूनान में कामेडी की प्राथमिक अवस्था म कोरस नामक नृत्य करने वाले, राहियों से छेड़खानी और हंसी-मजाक करते और तदुपरान्त दोनो पक्ष के लोग मिल-जुलकर

उत्साहवर्धक मद्यपान तथा नृत्य करते थे । उस प्रारम्भिक काल से आज तक कामेडी के लिए सुखान्त होना अनिवार्य बना हुआ है । मिलन, विवाह एवं उत्सव मे ही उसकी परिणति होती है ।

कामेडी का उद्देश्य जीवन का अतिरेक मिटाकर सन्तुलन बनाना है । जीवन म भोग, त्याग चतुरता विलासिता किसी तरह की अति नही होनी चाहिए । इससे यह स्पष्ट होता है कि सुखान्त नाटक का उद्देश्य गभीर है, उसकी साधना मनोरजन तक ही सीमित नही है । कामेडी जीवन की अभिव्यक्ति होकर आनद प्रदान करने का कार्य करती है । सुखान्त नाटक का अन्त नायक के सुख समृद्धि म हर्ष आनन्द की वृद्धि म होता है ।

कामदी के भेद

सुखान्त नाटक के फार्स रोमांटिक कामेडी, कामेडी आफ ह्यूमर्स, कामेडी ऑफ ह्यूमर कामेडी आफ मनर्स प्यूअर कामेडी ग्रेट कामेडी आदि । इन पर हम क्रमश विचार करेंगे ।

१ फार्स—कामेडी का निम्न रूप फार्स माना जाता है । इसका उद्देश्य दर्शकों को हँसाना मात्र होना है अतएव उसम उछलकूद, शोरगुल हँसी मजाक विसगत वेशभूषा कभी कभी अश्लील विनोद बातचीत का अनोखा ढग आदि बातें होती हैं । नाटककार ऐसी परिस्थितियाँ चरित्रो और प्रसगो का निर्माण करता है जिनसे दर्शक हसते हसते लोट पोट हो जाते हैं ।

२ रोमांटिक कामेडी—शेक्सपियर की कृतियो म इसके उदाहरण मिलते है । इसमे प्रेम और साहस का योग रहता । प्रेम म अनेक बाधाए अडचन कठिनाइयाँ आती हैं किन्तु इन पर विजय प्राप्त करते हुए प्रेमी नायक नायिका का मिलन होकर अन्त म विवाह हो जाता है ।

शेक्सपियर के ऐज यू लाइक इट मच एडो एबाउट नथिंग 'ट्वेल्वथ नाइट' आदि कृतियाँ प्रसिद्ध हैं ।

३ कामेडी आफ इन्ट्रीग—इसका प्रचलन प्रथमत रोम म हुआ । फार्स से श्रेष्ठ उसम माना जाता है इसमे कथानक मे चक्करदार परिस्थितियाँ और घटनाओ की नियोजना की जाती है । कदम कदम पर बाधाए उठना हैं उलझने पैदा होनी हैं और अन्त मे इनका निराकरण होना है । इसमे समाज के असत्य असामाजिक तत्वो की हँसी उड़ाई जानी है । इसम हसी का पात्र मूर्ख होता है और लगिक तथा प्रेम सम्बन्धो बातो पर बल दिया जाता है और पात्र दत वेश्या दलाल दम्भी आदि होते हैं । यह एक सामाजिक व्यग्य (Social Satire) है जिसम समाज के असामाजिक व्यक्तियो की पोल खोल दी जाती है और मजाक उडाई जाती है ।

४ कॉमेडी आफ ह्यूमर—इसके प्रवर्तक बेन जॉनसन माने जाते हैं। इसमें मनुष्यों की विभिन्न चरित्रगत कमियों पर व्यंग्य कर, खिल्ली उड़ाकर हास्य निर्माण का प्रयत्न किया है। समाज के शिथिल संस्कारों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन इसमें होता है। और उसमें बुद्धि विलास नहीं होता है। सहानुभूतिहीन व्यंग्य पूर्ण हास्य की वजह से इस प्रकार की कामदी का अंत हो गया। इस प्रकार की बेन जानसन की एव्हरी मैन इन हिज ह्यूमर' रचना प्रसिद्ध है।

५ कॉमेडी आफ मैनर्स—इसमें ढोंगी, आडम्बरयुक्त व्यक्तियों, असामाजिक तत्वों की हँसी उड़ाई है। विशेषरूप से कुलीन उच्च वर्गीय जीवन के कृत्रिम जीवन की आलोचना इसका लक्ष्य रहा है। आमोद प्रिय विलासी, शौकीन, चतुर व्यक्तियों की मूर्खता दिखाकर हँसी निर्माण की जाती थी। इसमें रूढ़ि परंपराओं का उल्लंघन होता था और समाज के एकांग पहलू का चित्रण होता था। सापरेट माम, नौवेल कावर्ड आदि ने इसी प्रकार की रचनायें की हैं।

६ प्युअर कामेडी—इसमें भावुकता, सदव्यक्तियों का चित्रण, आंसू, पारस्परिक धन्यवाद की प्रधानता पर बल दिया जाता है। इसका अंत शीघ्र ही हुआ।

७ ग्रेट कॉमेडी—इसमें जीवन के रहस्यों का उद्घाटन होने लगा, और मानव दोषों और त्रुटियों का वर्णन भावुकतापूर्ण नहीं था। जीवन संघर्ष में पात्र टक्कर लेते थे और अपने को योग्य बनाते थे। यह उच्चकोटि की कॉमेडी है। शेक्सपियर, मॉलियर, चेखोव आदि नाटककारों की ग्रेट कॉमेडी की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

त्रासदी—दुखान्त नाटक (Tragedy)

भारत में सुखान्त नाटकों को प्रधानता मिली किंतु निराशावादी यूनानियों ने दुखान्त नाटकों को प्राधान्य दिया है। त्रासदी में हमारे सामने असीम और ससीम का पारस्परिक विरोध प्रत्यक्ष होता है। अतिमानवीय शक्तियां मानवप्राणियों का अकारण भी विनाश कर सकती है। तथा तुच्छ अपराध या त्रुटि के लिए अप्रत्याशित दंड भी दे सकती हैं। परन्तु अतिमानवीय शक्तियों का सामना करने वाला मानव भी मानवोचित अपूर्णताएँ लेकर भी उन शक्तियों का सामना करता है। अरस्तू ने महाकाव्य की अपेक्षा भी त्रासदी को अधिक महत्ता प्रदान की है। यूनानियों की दुखान्त नाटकों की समृद्ध परम्परा है और त्रासदी उनके लिए धार्मिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व की वस्तु थी। यूनानी जाति की भावनाएँ विश्वास आशा, आकांक्षाएँ त्रासदी में अभिव्यक्त हुई हैं। ईसा पूर्व छठी शती के मध्य में थेस्पिस नामक कवि ने सर्वप्रथम इसे एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। एस्किलस सोफोक्लीज और यूरोपिडिज ने उत्कृष्ट दुखान्त नाटक रचनाएँ की। अरस्तू ने त्रासदी की विशेषताओं का

अपने काव्यशास्त्र मे विस्तार के साथ उल्लेख किया है। त्रासदी में हास्य और हल्की घटनाओ का स्थान नही मिलता। अरस्तु ने कथावस्तु चरित्रचित्रण विचार, शैली छद और गीत एव दृश्य।

कथावस्तु—यह त्रासदी का प्राण है। त्रासदी म चरित्र चित्रण गौण माना जाता है। चरित्रचित्रण के बिना त्रासदी का निर्माण सम्भव है। कथानक अनिवार्य अग माना है। क्योकि उसके बिना त्रासदी रचना असम्भव है। कथा वस्तु मे सफलता प्राप्त करना कठिन होता है रोचक एव सुगठित कथावस्तु बिना त्रासदी रगमच पर सफल नही हो सकती आखिर कथावस्तु की महत्ता के पक्ष मे दिये जाते हैं। परवर्ती त्रासदियो को देखते हुए अरस्तू के ये विचार सकीर्ण, सीमित जान पडते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानदडो का ध्यान म रखते हुये चरित्र चित्रण का महत्व बढ़ गया है यह बात बिल्कुल असदिग्ध है। त्रासदी की कथावस्तु का विशद विस्तार आवश्यक है क्योकि इसके अभाव मे नायक के भाग्य परिवर्तन का निरूपण समुचित रीति से करना कठिन हो जाता है। और रोचकता म व्यवधान उपस्थित होता है। यूनानी ट्रेजेडी का विषय होता है किसी उच्चकुल मे उत्पन्न नायक का दुर्भाग्य और विनाश। नायक उच्चश्रेणी के होने के कारण उसके दुर्भाग्य से दर्शको के मन म क्षोभ एव सहानुभूति का सचार होता है। और इसके साथ ही भय और आशका भी उत्पन्न होता है। विनाश के पूर्व नायक को अनेक यातनाओ की घटियो को पार करना पडता है। दुख अथवा मृत्यु के कारण होते हैं नियति की अप्रस न्नता अभिशाप, अनियन्त्रित विरोधी शक्तियो की बलि होना। नायक का दोष इतना ही होता है कि वह परिस्थितियो का अधूरा ज्ञान रखता है अथवा स्थिति का सम्यक मूल्याकन कर नही पाता। त्रासदी का कथानक कोई गम्भीर तथा प्रभावशाली पौराणिक अथवा ऐतिहासिक घटना पर आश्रित होता है। अर्थात कथानक म सर्वथा मौलिकता नही थी। कथानक सघर्ष से उत्पन्न होता है। यह सघर्ष विकसित होकर चरम बिन्दु (Climax) पर पहुँचता है जहाँ प्रति दिन (Recognition) तथा परिस्थिति विपर्यय (Reversal of situation) के साथ कथानक का प्रवाह एक निश्चित दिशा (Denovement) की ओर उन्मुख होकर दुर्घटना म (Catastrophe) परिणत होता है। स्थल काल कार्य इन तीनो क्रियान्वितियो के कारण कथावस्तु म केद्रिता एव सुगठन आता था।

चरित्र चित्रण—चरित्र चित्रण को अरस्तू ने बिल्कुल गौण स्थान प्रदान किया है। चरित्रो म, वे जिस वर्ग के हो उनकी विशेषतायें लक्षित होनी चाहिये और उन्हे कथानक और परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिये। उनके वचनो और व्यवहारो म एक रूपता होना आवश्यक है। चरित्रो का निर्माण

सम्भावनाओं के नियमों के अनुसार होना चाहिए।

विचार—अरस्तू के विचार से अभिप्राय था विवेक या तर्क बुद्धि से।

शैली और छन्द—त्रासदी की शैली गद्य पद्य तथा संगीत से अलङ्कृत होती है और उसमें उदात्तता के साथ प्रसाद गुण होता है।

गीत और दृश्य—यूनानी नाटकों में आरम्भिक अवस्था में गीत का प्रमुख स्थान था। त्रासदी का आविर्भाव ही कोरस के नृत्य और गान से हुआ, बाद में संगीत का महत्त्व कम हुआ। कोरस और नृत्य द्वारा मनोरंजन किया जाता था। अरस्तू ने दृश्य विधान को बिल्कुल महत्व न देते हुए लिखा है कि घटना क्रम से ही त्रासदी का प्रभाव उत्पन्न होना चाहिए, रंगशाला के बाह्य साधनों से नहीं। त्रासदी को काव्यरूप में प्रतिष्ठित कर अरस्तू ने रंगशाला आदि को बाह्य साधन मात्र माना है।

उद्देश्य—त्रासदी का मुख्य उद्देश्य है भय तथा करुण का उद्दीपन तथा उनका शोधन। इसलिए विशिष्ट नायक की कल्पना उसे अपराध की तुलना में अधिक कष्ट और यातना उठाते चित्रित करना जिससे करुणा और भय का संचार दर्शकों में होता। यही विरेचन अथवा कैथारसिस का प्रसिद्ध सिद्धान्त है।

यूरोप में त्रासदी के नियमों का पालन नहीं किया गया। संकलन त्रय तथा नियति की कठोरता के नियमों का उल्लंघन कर शेक्सपियर आदि नाटककारों ने स्वच्छन्दतावादी ट्रैजेडी का प्रचलन किया। अरस्तू के बाद त्रासदी की दार्शनिक व्याख्या करने में हेगेल प्रमुख हैं। हेगेल का विवेचन पक्ष (Thesis) विपक्ष (Anti thesis) तथा उच्चतर समन्वय (Synthesis) पर आधारित है। उन्होंने नाट्य संघर्ष के संबंध में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। हेगेल के अनुसार प्रत्येक दुखान्त नाटक में संघर्ष निहित रहता है। इस संघर्ष के विविध रूप हैं—नायक नियति संघर्ष, नायक परिस्थिति संघर्ष राजनीतिक शक्तियों का संघर्ष, अन्तर्संघर्ष। त्रासदी में ये सब संघर्ष मिलते हैं। बाह्य और अंत प्रवृत्तियों का संघर्ष शेक्सपियर में देखने को मिलता है। यूनानी नाटकों में भी अंत संघर्ष के सुन्दर स्थल हैं। यूनानी नाटकों, इब्सेन के नाटकों बाह्य और अन्तर्संघर्ष के द्वन्द्व मिलते हैं। कालान्तर में त्रासदी का रूप परिवर्तन विज्ञान समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान की तीन विशिष्ट विचारधाराओं के प्रभाव से हुआ। विषय की दृष्टि से त्रासदी के चार भेद हैं—(१) हीरोइक ट्रैजेडी (२) हॉरर ट्रैजेडी (३) डामस्टिक ट्रैजेडी (४) मेलोड्रामा।

१ हीरोइक ट्रैजेडी—इसमें प्रणय और साहस रहता है। इसकी शैली अतिशय अलङ्कृत और आडम्बरपूर्ण थी और प्रासंगिक कथानक अश्लील एवं असंगत रहते थे। आज ऐसे नाटक नहीं लिखे जाते हैं।

२ हारर ट्रैजेडी—इसमे विशेष रूप से कथानक भयकारी दृश्यो से आपूर्ण रहते थे जिससे दर्शको के मन मे आतक जम जाता। इसमे विविध बाह्य आतक कारी और भीषण दृश्यो का समावेश रहता था।

३ डोमेस्टिक ट्रैजेडी—इसमे आर्थिक विषमता से जनित सघर्षो का चित्रण होता था। इसमे उलझन भीषण बनकर दृश्य भयकारी रहते थे और अन्त मे मृत्यु रहती थी।

४ मेलोड्रामा—इसमे अतिशयोक्ति से काम लिया जाता है। इसका अन्त सुखद भी हो सकता है किन्तु प्रभावोत्कर्ष के लिए प्राय अन्त दुखद रखा जाता है। और नाटको की कथा अस्वाभाविक होती है और नृत्य एव अस्वाभाविक दृश्यो का उसमे समावेश रहता है। घटनाचक्र भी अस्वाभाविक होकर स्थायी प्रभाव डालने मे असमर्थ रहता है। इसमे मनोवैज्ञानिक दृष्टि न होकर उत्ते जक वातावरण होता है। श्रेष्ठ दुखान्त नाटको की आत्मा इसमे नही होती। अति दुखान्त घटनाए—लाशो के ढेर, पागल आदि के द्वारा नाटक को अति दुखान्त नाटक बनाने का हेतुक प्रयत्न किया जाता है। उसका कथानक, सवाद एव पात्र असामान्य होते हैं। जकोब का दि भ कीज या सफल मेलोड्रामा है।

रेडियो-नाटक

रेडियो नाटक और रेडियो पश्चिम की देन है। यह विधा अत्यन्त अर्वा चीन है। रेडियो प्रसार के साथ रेडियो नाटक का भी प्रसार बढता जा रहा है। रेडियो नाटक वस्तुत श्रव्यकाव्य ही है। नाटको मे श्रव्य के द्वारा श्रोता की आँखो के सामने रूप खडे किये जाते हैं। सामान्य नाटक चाक्षुष प्रत्यक्ष होने के कारण स्वतन्त्र होते हैं, रेडियो नाटक कर्णेन्द्रिय द्वारा रसोत्पादन करते हैं। नाटक गीत, नृत्य, रग नेपथ्य द्वारा अधिक आकर्षक बनाया जाता है, रेडियो नाटक के लिये नृत्य, रगशाला का आधार नही होता। रेडियो नाटक ध्वनि पर निर्भर होते हैं। इसमे पात्र स्वर और शब्दो के आरोह अवरोह द्वारा प्रभाव निर्माण करते हैं। वातावरण का वर्णन भी सक्षिप्त और व्यजनामूलक शब्दो मे होता है। लम्बे दृश्य नही होते। ध्वनि-अनुकृति ही रेडियो का प्राण है।

कथावस्तु—रेडियो कथावस्तु मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक ऐतिहासिक पौरा णिक समस्यामूलक कोई भी हो सकती है। विशेषतया गम्भीर विषय अधिक अनुकूल होता है अर्थात इसका मतलब यह नही की हास्य कारक अथवा विनोदी विषय वर्जित है। जीवन की किसी सामान्य एव घटना या भावना को चित्रित किया जाता है। घटनाओ की जटिलता इसमे अपेक्षित नहीं है। रेडियो नाटक लघु और दस से पैंतीस मिनटो मे समाप्त होना चाहिये।

कथावस्तु में अभिनेय की अपेक्षा ध्वनि की माध्यम की सुविधा अधिक होनी चाहिये।

पात्र---पात्रों की संख्या कम होना चाहिए--अधिक से अधिक पाँच हों। पात्रों का परिचय भी ध्वनि माध्यम से होता है इसीलिए चारित्रिक विशेषताएँ ध्वनि का प्रस्तुतः स्वर चित्रित करनी चाहिए।

संवाद---रेडियो नाटक का प्राण ही संवाद है। संवाद संक्षिप्त सकेतात्मक प्रभावपूर्ण व्यंजनामूलक, ध्वन्यात्मकता को सहायक बनने वाले होने चाहिए। संवादों का सौष्ठव ही रेडियो नाटक की विशिष्टता है। संवादों में स्वगत भाषण भी आ सकते हैं किन्तु बहुत लम्बे नहीं। संगीत के द्वारा मन के तथा जीवन जगत बाह्य संघर्षों को प्रभावशाली बनाया जाता है। अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति संगीत सहायता से अधिक स्पष्ट की जाती है। प्रायः संगीत की सहायता रेडियो नाटक के लिए अपेक्षित और अनिवार्य-सी होती है। वातावरण निर्मिति वर्षा ऋतु सागर पर तूफान आदि ध्वनि माध्यम से और संगीत के द्वारा की जाती है। ध्वनि माध्यम से ही कथानक श्रोताओं तक सम्प्रेषित किया जाता है। रेडियो नाटक में संकलनत्रय आदि अनेक बन्धनों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

रेडियो नाटक के---संगीत रूपक या गीतिनाट्य फ़ीचर--ड्रामा, फंटेसी भावनाट्य झलकियाँ प्रहसन, मोनोलाग-स्वगतभाषण, रिपोर्ताज, जननाटक आदि भेद हैं। रेडियो नाटक का भविष्य निश्चित रूप से आशादायक है क्योंकि जितनी संख्या में रेडियो नाटक खेले जाते हैं, उतने न रंगमंच अथवा सिनेमा की प्रयोगशाला में खेले जाते हैं।

एकांकी (One Act Play)

आज का एकांकी यद्यपि आधुनिक रूप में पाश्चात्य की देन है किन्तु भारत में भी प्राचीनकाल में इसका प्रचलन था। संस्कृत के व्यायोग, भाण वीथी, नाटिका, गोष्ठी, नाट्यरासक, उल्लाप्य काव्य, श्रीगदित, हल्लीश, अंक आदि एकांकी रूपकों एवं उपरूपकों के भेदों के अंतर्गत समाविष्ट थे। आधुनिक एकांकियों पर पाश्चात्य राष्ट्रों में पर्याप्त विवेचन हुआ है। इसको हम देखेंगे---

परिभाषा---एकांकी की अनेक परिभाषाएँ दी जाती हैं, जिनमें उसके स्वरूप की ओर संकेत किया गया है। मैं एकांकी की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहूँगा---एकांकी वह है जिसमें कम पात्र कम घटनाएं केन्द्रस्थ विचार या भाव को लेकर कथा का सुगठित विकास होता है और जो बीस से चालीस मिनिटों में खेला जा सके।

एकाकी का आधार एक मुख्य विचार, कोई विशेष समस्या, एक सुनिश्चित लक्ष्य होना चाहिए। एकाकी का लेखन दर्शकों के मन पर प्रभाव डालने के लिए होता है। एकाकी जीवन या समाज के किसी एक पहलू घटना या उद्दीप्त क्षण को प्रस्तुत करता है—

The one Act play, by its nature and the rigid restriction of medium has to confine itself to a single episode or situation and this situation, in turn has to grow and develop out of itself एकांकीकार के लिये चरित्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म छटाओं को व्यक्त करने का अवकाश नहीं रहता। एकाकी सफलता के लिये जीवन की एक भावना, विचार को लेकर रोचक, उत्तेजनापूर्ण चित्रण होना आवश्यक है। डा० नातिस्वरूप गुप्ता ने लिखा है कि एकाकीकार जीवन की वास्तविकता के एक स्फुलिंग को पकड़कर उसे ऐसा प्रभावपूर्ण बना देता है कि मानव का समूचा भाव जगत झनझना उठता है। एकाकी में एकता का वायुमंडल आवश्यक है। एकाकी की परिधि सीमित होती है, अतएव कम समय में घटना को स्पष्ट करना या समस्या का उद्घाटन करना होता है। पर्सीवल वाइल्ड ने लिखा है—The time factor is important while the speed of action be accelerated, it must not be so for from that of real life that it is wholly rejected एकाकी में संक्षिप्तता लाने के लिये स्थल काल कार्य इस संकलनत्रय का अनिवार्यता बतायी जाती है। संकलनत्रय से एकाकी की एकता में एकाग्रता और प्रभाव ऐक्य आता है।

अब हम एकाकी के तत्वों पर विचार करेंगे—एकाकी के तत्व हैं कथावस्तु चरित्र चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, शैली, उद्देश्य एवं अभिनयता।

१ कथावस्तु (Plot)—कथावस्तु का निर्माण—पुराण, इतिहास, राजनीति सामाजिक समस्या अथवा भाव—किसी के भी आधार पर हो सकता है। एकाकी छोटा होने के कारण बिना किसी प्रस्तावना से प्रारम्भ करना पड़ता है। प्रारम्भिक वाक्य से जिज्ञासा और कौतूहल निर्माण करना होता है। बढ़ती हुई घटनाओं की ओर संकेत कर लेखक क्षिप्रगति से नाटकीय स्थिति की ओर ले चलता है। कथावस्तु रोचक एवं गतिशील होना आवश्यक है। संघर्ष एकाकी का प्राणतत्व है। यह संघर्ष दो विरोधी व्यक्तियों भावों विचारों में हो सकता है। आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिकता के कारण अन्तर्द्वन्द्व को अधिक महत्ता दी जाती है। एकाकी में एक एक भावना घटना का घनीभूत करते हुए चरम सीमा में चमक उठती है। कुछ आलोचकों का मत है कि एकाकी चरम सीमा पर (Climax) समाप्त होना चाहिए। प्रभाव की दृष्टि से यह मत ठीक है,

किन्तु अनिवार्य नहीं है। कारण बिना चरम सीमा वाले एकाकी भी सफल होते हैं। एकाकी कथावस्तु के एकता, एकाग्रता और विस्मय आवश्यक तत्त्व हैं। एकाकी का लघुकाय ढाँचा होने के कारण उसमे प्रमुख तथा गौण प्रासंगिक कथावस्तुओ का निर्वाह एक साथ नही हो सकता। अत जीवन की कोई मार्मिक घटना, कोई उद्दीप्तक्षण, विशेष परिस्थिति का वर्णन इसमे होता है। एकाकी में प्रभाव ऐक्य होना ही चाहिए—It should aim at making a single impression एकाकी मे अधिक से अधिक दो दृश्य हो। अधिक दृश्यो की भरमार एकाकी की कथावस्तु की एव प्रभाव को अपरिमिति क्षति पहुँचाते हैं।

२ चरित्र चित्रण—एकाकी म व्यापक एव सूक्ष्म पात्रो का चित्रण करना असभव है। एकाकी मे पात्रो के किसी स्वभावगत पहलू पर प्रकाश डाला जाता है, उसका विकास दिखाना आवश्यक नही होता। इसमे चरित्र के किसी एक विशेष पक्ष, उसकी विशेष मानसिक स्थिति अथवा परिस्थिति का चित्रण होता है। पात्र कम हो और लेखक के हाथ की कठपुतलियाँ न हो एकाकी मे अप्रधान प्रसग घटना और पात्रो का जमघट वर्जित है। सिडन बॉक्स ने कहा है—The one Act play is not which lends itself easily to much subtlety of characterisation

३ कथोपकथन—सवाद परिस्थिति के अनुरूप, स्वाभाविक सजीव, सक्षिप्त ममस्पर्शी व्यजनात्मक, वैदग्ध्यप्रधान होने चाहिए। कथोपकथन का उद्देश्य-कथानक को आगे बढाना और पात्रों के चारित्रिक गुणो दोषो पर प्रकाश डालना होना चाहिए। कथोपकथन के प्रत्येक शब्द का महत्त्व होता है, इसी दृष्टि से उसकी योजना होनी चाहिये। एकाकी म स्वगत कथन (Soliloquy) अनावश्यक और अस्वाभाविक लगते हैं अतएव उन्हे वर्जित किया जाता है।

४ देशकाल वातावरण—एकाकी की कथावस्तु पात्रों के अनुरूप इसका वर्णन होना चाहिये। अर्थात पात्रों की सवाद योजना, वय वि यास रीतिनीति, चित्रण देश काल वातावरण के अनुसार होना चाहिये।

५ भाषा शली—कम शब्दो में भावों और विचारो की अभिव्यजना एकाकी मे करनी पडती है। अतएव प्रत्येक शब्द सार्थक नपातुला व्यजनामूलक होना आवश्यक है।

६ उद्दश्य—एकाकी के उद्देश्य—मनोरजन, सामाजिक विकृतियो पर प्रहार करना आदि हो सकते हैं।

७ अभिनेयता-अभिनेयता एकाकी का अनिवार्य गुण है इसीलिये लेखको का पर्याप्त रग निर्देश प्रकाश छाया के सम्बन्ध मे उचित सकेत देने चाहिये। सफल एकाकीकार को रगमच का ध्यान रखना आवश्यक है।

एकांकी भेद

एकांकी के तीन भेद किये जाते हैं—पाठ्य एकांकी दृश्य एकांकी ध्वनि एकांकी। पाठ्य एकांकी के दो भेद हैं—परिसंवाद और पाठ्य।

दृश्य एकांकी के भी दो भेद हैं दृश्य एकांकी और गीतिनाट्य।

ध्वनि एकांकी के भी दो भेद हैं—ध्वनिरूपक और ध्वनि नाटक
(रेडियो फीचर) (रेडियो ड्रामा)

आधुनिक युग में एकांकी विविध विषय पर लिखे जा रहे हैं।

रंगमंच

रंगमंच शब्द का अभिनय मंच ऐसा संकीर्ण अर्थ न लेकर इसका बड़ा व्यापक अर्थ आजकल लिया जाता है। इसमें नाट्यगृह प्रेक्षागृह नेपथ्यगृह रंगमंच और उसकी सजावट यवनिका प्रयोग संगीत योजना आदि अनेक बातों का समावेश होता है। भारत में प्राचीन काल से रंगमंच की प्रतिष्ठा थी। प्रथमतः प्राचीन रंगमंच के सम्बन्ध में देखेंगे।

प्राचीन भारतीय रंगमंच

भरतमुनि नाट्य को वेद और प्रेक्षागृह की स्थापना को यज्ञ मानते थे। इसी दृष्टिकोण से नाट्यशास्त्र में उन्होंने रंग यजन का विवरण दिया है। शास्त्र के अनुसार विश्वकर्मा ने तीन प्रकार के नाट्यगृहों का निर्माण किया है—विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र। इनके भी ज्येष्ठ मध्यम और अधम (अवर) तीन रूप हैं जो परिमाणों के विस्तार के अनुसार किये हैं। प्रथम की (विकृष्ट) लम्बाई १०८ हाथ दूसरे की ६४ हाथ और तीसरे की ३२ हाथ मानी गई है। देवालयों में प्रथम प्रकार के राजगृहों में द्वितीय प्रकार के और साधारण घरों में तृतीय प्रकार के प्रेक्षागृहों का विधान किया गया है। इन प्रेक्षागृहों में मध्यम प्रकार को उत्तम माना गया है जिससे कि वाद्य और गीत सहज रूप में सुने जा सकें। प्रेक्षागृह के निर्माण का विधान इस प्रकार है। सूत्र प्रक्रिया द्वारा भूमि की परीक्षा करनी चाहिये। भूमि समान स्थिर, कठिन काली अथवा गौर वर्ण की होनी चाहिए घास फूस आदि को साफ कर और कंकड़ों की जड़ें खुदवाकर भूमि को साफ करना चाहिये। नाट्यमंडप के शिलान्यास के लिए उत्तम महूर्त और नक्षत्र (रेवती हस्त पुष्य आदि) देखने चाहिये। शिलान्यास करते समय रंगशाला के विविध अंगों का विन्यास करना चाहिए—चौंसठ हाथ लम्बा भाग नाप लेकर इसके दो भाग करने चाहिए। इसके पहले आधे भाग में प्रेक्षागृह और दूसरे आधे भाग के पुनश्च दो आधे भाग करके नेपथ्यगृह और रंगपीठ की रचना करनी चाहिये।

विकृष्ट	१६	१६	
	प्रेक्षागृह	रगशीष	रगपीठ

नीव पड़ने के बाद दीवारें खड़ी करनी चाहिये । इसके उपरान्त अच्छे नक्षत्र पर खम्भे खड़े करने चाहिये । दो खम्भे बाहर की तरफ बनाने चाहिये और क्रमश ८ हाथ की दूरी पर होने चाहिये । स्तम्भ के द्वारा भित्ति की विधिवत स्थापना के उपरान्त रगपीठ के पीछे मत्तवारिणी की स्थापना करनी चाहिये । रग पीठ तथा मत्तवारिणी दोनों की ऊँचाई के बराबर रगमण्डल बनाना चाहिये । रग पीठ और रगशीष के बीच में पर्दा होता है । रगशीष के निर्माण के पश्चात दो द्वार प्रवेश करने के लिए और निर्गमन के लिए बनाने चाहिए । नेपथ्य गृह की भूमि काली मिट्टी से भर देनी चाहिये । रगपीठ कूर्म पृष्ठ (मध्य में ऊँचा) अथवा मत्स्य पृष्ठ (मध्य म नीचा) के समान नहीं होना चाहिये । दर्पण समान समतल रगशीष श्रेष्ठ होता है । रगपीठ रत्न जटित होना चाहिए । पूर्व में हीरा, दक्षिण में नीलम, पश्चिम में स्फटिक उत्तर में मूँगा और मध्य में सुवर्ण होना चाहिए । इसके बाद लकड़ी का काम होना चाहिये जिसमें अनेक प्रकार की कारीगरी पक्षी पञ्जजाली युक्त झरोखे आदि की रचना होनी चाहिए । भित्ति पर चित्र बनवाने चाहिये और उन पर बेलें चढ़ाना चाहिए । रगपीठ विकृष्ट मे अधिक ऊँची होनी चाहिए चतुरस्र म समान । विकृष्ट चौकोणाकार और त्र्यस्र त्रिकोणाकार होता है । विकृष्ट रगशाला सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है । भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुकूल बनी हुई एक रगशाला सरगुजे (मध्य प्रदेश) में मिली है इसका उल्लेख डा० ओझा ने समीक्षा शास्त्र म (पृष्ठ १३५) किया है ।

पूर्वरग

नाट्याभिनय के पूर्व रगदेवता का पूजन होता है और पूर्वरग प्रारम्भ होता है । पूर्वरग भी अभिनय के पहले आता है । इसमे गायकों का प्रवेश गीतारम्भ नान्दीपाठ वन्दना होती है । इसके पश्चात सूत्रधार और नटी का कथोपकथन होता है और रगसिद्धि के लिए काव्य-वस्तु का निरूपण सक्षेप में किया जाता है । काव्य तथा नाटककार के सम्बन्ध मे इसमे जानकारी दी जाती है । इस प्रकार पूर्वरग का विधिवत पालन करने से अमगल या अनिष्ट नहीं होता ।

उपर्युक्त विशद विवेचन से प्राचीन भारत का रगमच और नाट्य कला कितनी उन्नत और विकसित थी इसका सकेत मिलता है ।

आधुनिक भारतीय रगमच

आधुनिक भारतीय रगमच में निम्नलिखित रगमचो ने अपना योगदान दिया है—रामलीला यात्रा सम्बन्धी जननाटक, कठपुतली, ललित महाराष्ट, गुजरात का भवाई जननाटय आदि। हिन्दी को रगमच न होने के कारण अभिनेय योग्य नाटक कम और पाठय नाटक अधिक लिखे जाते हैं। बगला और महाराष्ट की रगमच की परम्परा समृद्ध और विकसित है। रग मदिर के अनेक दोषो और त्रुटियो को हटाकर तथा छाया प्रकाश, ध्वनि, रगशाला, रगनीय प्रेक्षागह सगीत वातानुकूलता अभिनेता की सुविधायें आदि अनेक दृष्टिकोणों को ध्यान मे रखकर महाराष्ट म, पूना मे बालगधर्व 'रगमदिर' का निर्माण किया गया है जो किसी भी पाश्चात्य राष्ट्र के आधुनिक महानगर के प्रगत उन्नत समद्ध, विविध सुविधाओं से युक्त ऐसे रगमच के तुल्य है। बाल गधर्व रगमदिर भारत म एक आदर्श नाटय थिएटर है।

प्रकरण—७

आलोचना

व्युत्पत्ति और आलोचना के पर्यायवाची शब्द

आलोचना शब्द संस्कृत की लुच् धातु से बना है। लुच् का अर्थ है देखना। लुच् में ल्युट् प्रत्यय जुड़कर लोचन शब्द सम्पन्न होता है। स्त्रीवाचक टाप् प्रत्यय जोड़कर लोचना शब्द बनता है और आङ् उपसर्ग जोड़कर आलोचना शब्द बनता है। इस प्रकार आलोचना का अर्थ हुआ किसी वस्तु या पदार्थ को विशेष मर्यादित दृष्टि से देखना। आजकल आलोचना की अपेक्षा समालोचना शब्द का अधिक प्रचार है जिसका अर्थ है संतुलित दृष्टि से गुणदोषों का विवेचन करना। साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ पढ़कर उसके गुण दोषों का विवेचन करके उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, नाटक, निबन्ध उपन्यास आदि सभी की हो सकती है। यहाँ तक कि आलोचनात्मक ग्रंथ की भी हो सकती है। यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है। अंग्रेजी का Criticism शब्द की मूलधातु Krites है जिसका अर्थ है अलग करना, निर्णय करना मूल्यांकन करना। आलोचना और Criticism के अर्थ में विलक्षण साम्य है। आलोचना के लिए समालोचना, पर्यालोचना समीक्षा मीमांसा, सिंहावलोकन विहंगावलोकन आदि शब्द व्यवहृत होते हैं उन पर विचार करेंगे। आलोचना का अर्थ केवल देखना होता है किन्तु समालोचना का शब्दशः अर्थ चारों ओर देखना। अथवा सम्यक रूप से देखना है। साहित्यिक रचना का भलीभाँति परीक्षण, विश्लेषण आदि कर तत्सम्बन्धी स्वसम्मति या निर्णय देना ही समालोचना है। परन्तु आजकल आलोचना और समालोचना का एक ही अर्थ में प्रयोग होता है। आलोचना और पर्यालोचना में अन्तर है। परि+आलोचना परि का अर्थ है चारों ओर अच्छी तरह परिपूर्ण अर्थात जो परिपूर्ण आलोचना की जाती है वह है पर्यालोचना। विषय की सांगोपांग दृष्टि से की हुई आलोचना पर्यालोचना होगी। समीक्षा का अर्थ है अच्छी तरह से देखना या जाँच करना—सम्यक् ईक्षा या ईक्षणम्। किन्तु वस्तु रचना या विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक तत्व का विवेचन करना समीक्षा है। जब साहित्य के सम्बन्ध में उसकी उत्पत्ति

उसके स्वरूप, उसके विविध अंगों, गुणदोष आदि विभिन्न तत्वों और पक्षों के सम्बन्ध में सम्यक विवेचन किया जाता है तो उसे साहित्यिक समीक्षा कहते हैं। चारों ओर से देखना आलोचना और सम्यक दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करना समीक्षा है—अतएव कुछ विद्वान् समीक्षा को अधिक व्यापक रूप प्रदान करते हैं। समीक्षा नाटक चित्रपट अथवा अन्य साहित्येतर बातों की भी हो सकती है। आलोचना का जो शास्त्रीय अर्थ है वह समीक्षा का नहीं है। समीक्षा आलोचना के लिए लोकप्रिय व्यावहारिक शब्द है। समीक्षा का प्रयोग आलोचना के अर्थ में नहीं हो सकता। मीमांसा का शाब्दिक अर्थ है गवेषणा अथवा विवेचन। प्राचीनकाल में तथा वर्तमानकाल में मीमांसा का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। वेद मीमांसा धर्म मीमांसा। मीमांसा में विवेचन पर अधिक बल दिया जाता है और स्पष्टीकरण किया जाता है। आलोचना और मीमांसा में अन्तर है। सिंहावलोकन का अर्थ है—स्थूल दृष्टि से देखना। पराक्रम मार्ग चलने के उपरान्त सिंह रुककर पीछे की ओर देखता है और इस मानसी है उसे सिंहावलोकन कहते हैं। उसी प्रकार किसी विषय में—राजनीति, अर्थनीति साहित्य रसायनशास्त्र की प्रगति की जाती है उसका आलेख हमारे सामने जब प्रस्तुत किया जाता है तो उसे सिंहावलोकन कहते हैं। सिंहावलोकन में प्रगति अथवा उन्नति की ओर ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हैं। जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक सिंहावलोकन। अर्थात् इसमें गुण दोष दर्शन आदि का इतना ध्यान नहीं मिलता जितना आलोचना में। विहगावलोकन भी और अधिक स्थूल दृष्टि से देखता है। कोई पक्षी ऊँचाई पर बैठकर नीचे के भाग को देखता तो उसे विहगावलोकन कहते हैं। किसी विषय की ओर स्थूल दृष्टि से देखकर उसके सम्बन्ध में कुछ कथन करना विहगावलोकन है। विहगावलोकन और सिंहावलोकन दोनों व्यावहारिक प्रचलित शब्द हैं किन्तु आलोचना से सर्वथा भिन्न अर्थ रखने वाले हैं। अतएव आलोचना के पर्यायवाची शब्दों के रूप में उनका कदापि प्रयोग नहीं होता।

आलोचना का स्वरूप

आलोचना की विभिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की जाती हैं।

१— आई० ए० रिचर्डस ने मूल्य निर्धारण को महत्व देते हुए लिखा है—
To set up as a critic is to setup as a Judge of values

२— कार्लाइल ने प्रभाववादी समीक्षा का समर्थन करते हुए लिखा है—
Literary criticism is nothing and should be nothing but the recital of one's personal adventures with a book

३— इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटनिका ने आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करते

हुए लिखा है—criticism is the art of Judging the qualities and values of an aesthetic object wether in literature or the fine arts It involves the formation and expression of judgement अर्थात् आलोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण दोषों का परख करना है चाहे वह परख साहित्य क्षेत्र में की गई हो या ललित कला क्षेत्र में। इसका स्वरूप निर्णय में सन्निहित रहता है।

४— मैथ्यू अर्नाल्ड ने आलोचक की तटस्थता पर बल देते हुए लिखा है—But the criticism is essentialy the exercise of this very quality (curiosity and disinterested love of a free play of mind) आलोचना की सबसे प्रमुख विशेषता तटस्थता है।

इस प्रकार अनेक परिभाषायें प्राप्त होती हैं।

आलोचना मौलिक सृजन नहीं वास्तव अनुकृति है। आलोचना का प्रचलन अत्यन्त प्राचीनकाल से मिलता है अर्वाचीन आधुनिक आलोचना से वह सर्वथा भिन्न रूप है। आलोचना में कल्पना और भाव कम रहते हैं और तर्क और बुद्धि की प्रधानता अधिक होती है आलोचना में पाठ दर्शन की अधिक महत्ता है। इसमें मस्तिष्क पक्ष अथवा विचार का हृदयपक्ष की अपेक्षा अधिक महत्व है। सम्भावना पर विचार न करते हुए सत्य का निरूपण की प्रवृत्ति इसमें होता है। तार्किकता एवं विश्लेषण प्रवृत्तियों को अपनाकर आलोचना कला की अपेक्षा विज्ञान से अधिक सम्बन्धित मालूम पड़ता है किन्तु उसका पूर्ण सम्बन्ध विज्ञान से भी नहीं होता। आलोचना के द्वारा ग्रन्थों की जटिल एवं निगूढ़ बातों का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है जिसे पढ़कर आनन्द होता है। काव्य को सुबोध बनाने का कार्य आलोचना करता है। वस्तुतः आलोचना आत्मा से कला ही है कारण काव्य की गुत्थियों सुलझाने के लिए इसे हृदय पक्ष का आश्रय लेना पड़ता है आनन्द और ज्ञान में समन्वय बनकर वह कला का अंग बनती है। विज्ञान और कला का सम्मिलित रूप ही आलोचना है।

आलोचना का कार्य

आलोचना द्विविध कार्य करती है—एक कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या करना और उसके सम्बन्ध में कोई मत स्थिर करना। कृति में व्याप्त गुणों का उद्घाटन और दोषों का विवेचन कर उसका समाज में तथा अन्य कृतियों के बीच उसका स्थान और महत्व का प्रतिपादन भी आलोचना करती है। कलात्मक उत्कृष्टता का पूर्ण प्रकाशन कवि प्रतिभा की विशेषताओं का प्रकाशन कवि की मनःस्थिति पर प्रकाश डालना तथा वैयक्तिक पारिवारिक, सामाजिक और युग परिस्थितियों का प्रकट करना आलोचना के कार्य में हो

समाविष्ट है। जागरूक आलोचक मूल्य अथवा महत्व का निरूपण अथवा व्याख्या तटस्थ भाव से करता है।

आलोचना का उद्देश्य (प्रयोजन ध्येय)

कला की दृष्टि से कोई ग्रन्थ श्रेष्ठ है या नहीं इसका निर्णय आलोचना के द्वारा होता है। भूगर्भशास्त्र ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक ग्रन्थों का कलात्मक दृष्टि से विचार नहीं किया जाता। साहित्य का सम्बन्ध समाज नीति, कला आदि अनेक बातों से होता है इसी कारण उसके गुण दोषों के विवेचन की आवश्यकता होती है। पदार्थ विज्ञान के ग्रन्थ में भी गुण दोष हो सकते हैं किन्तु उन्हें सामान्य पाठक समझ नहीं सकता। भिन्नरुचिर्हि लोकः वाले सिद्धान्त के अनुसार सभी लोग अपने अपने अलग मतानुसार किसी ग्रन्थ को अच्छा या बुरा कहते हैं। जब हम किसी ग्रन्थ का अध्ययन करने लगते हैं तो उस ग्रन्थ को श्रेष्ठ या निकृष्ट मानने में या ऐसा मत स्थिर करने में हम असमर्थता एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये अच्छी आलोचना की आवश्यकता होती है। निकम्मी भद्दी और रद्दी पुस्तकों से बचने के लिए और अच्छी पुस्तकों के प्रसार के लिए उच्च आलोचक की सम्मतियाँ बहुत बड़ा योगदान देती हैं। कोलरिज ने लिखा है कि आलोचना का अंतिम ध्येय काव्य कृतियों के गुण दोष निरूपण के व्यावहारिक नियमों को उपस्थित करने की अपेक्षा सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन अधिक है यद्यपि दोनों को पृथक करना सदैव सरल नहीं है। समीक्षक कवि का प्रतिद्वन्द्वी नहीं वरन् उसका सहायक और मित्र है। कवियों की कृतियों का सौन्दर्य एवं आकर्षण के रहस्य का आलोचक उद्घाटित करता है। टी० एस० ईलियट ने कहा है कि आलोचना द्वारा कला कृतियों का निरूपण और अभिरुचि का परिष्कार होता है। आलोचना से संस्कृति का परिपोषण (अर्थात् रचनात्मक शक्ति क्षीण होने के युग में उत्तर रचना के लिए वातावरण निर्मित करना) और परिवर्द्धन करना होता है।

आलोचना और अनुसंधान

आलोचना अर्थनिर्णय प्रवृत्ति निर्णय और मूल्यांकन आलोचना की विशेषताएँ हैं। अनुसंधान में सामग्री के प्राथमिक स्रोत पर बल दिया जाता है। अनुसंधान या शोध का प्रमुख कार्य अज्ञात तथ्यों की खोज अथवा ज्ञात तथ्यों की नवीन व्याख्या करना है। अतएव समस्त अनुसंधान का कृतियाँ न आलोचना हो सकती हैं और आलोचना की समस्त कृतियाँ अनुसंधान की। आलोचना में जब नवीन दृष्टिकोण तथा अज्ञात तथ्यों की खोज अथवा नवीन व्या-

कोण प्रस्तुत किया जाय तब आलोचना अनुसधान की कृति बन सकती है। आलोचना मे भी नवीन बातें कही जा सकती है पर उन बातो मे प्रारम्भ से अत तक कोई निश्चित दृष्टिकोण अथवा सिद्धात वर्तमान नहीं रहता। किसी निश्चित दृष्टिकोण को या सिद्धात को लेकर चलना अनुसधान का लक्ष्य होता है। आलोचना किसी मानदड के आधार पर अथवा उसके बिना नवीन सुदर विशेषताओ का स्पष्टीकरण करती है, उसमे सिद्धान्त को लेकर चलने की बात नहीं होती।

आलोचना और साहित्यिक इतिहास

इतिहास साहित्य को कालक्रम से व्यवस्थित करके और ऐतिहासिक प्रक्रिया का अभिन्न अग मानकर उसको ओर देखता है। एक भामक कल्पना यह है कि इतिहास का सम्बध ऐसे तथ्यो से है जिनकी जाँच हो सकती है सिद्धान्त और आलोचना का सम्बन्ध मत या राय और विश्वास से है। इतिहास और आलोचना के अपने अपने अलग मानदण्ड हैं। साहित्यिक इतिहास का मुख्य उद्देश्य यह होता है लेखक ने किस आशय से किसी कृति की रचना की थी। आलोचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखती हुई लेखक का महत्व, कृति का मूल्याकन एव व्याख्या और विशेषताओं का स्पष्टीकरण करती है। आलोचना इतिहास नही है। नवीन तथ्यो के प्रकाश मे इतिहास उनके अनुरूप परिवर्तित सशोधित होता है। साहित्य का इतिहासकार को इतिहासकार बन रहने के लिए आलोचक भी होना पड़ता है। आलोचना और साहित्य के इतिहास का एक दूसरे से सम्बन्ध टूट जाना दोनो के लिए घातक है।

आलोचना और काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्र और काव्य सिद्धान्तो को कुछ लोग आलोचना का एक रूप मानते हैं, किन्तु दोनों मे सिद्धान्त भेद है। डॉ० भगीरथ मिश्र जी ने रेनवे एक आस्टिन वारन के मतो थियरि आफ लिटरेचर (सस्करण १९६८ पृ० ३९) को स्पष्ट करते हुए लिखा है 'काव्यशास्त्र या सिद्धान्त समस्त काव्य मे व्याप्त उसके स्वभाव, सौन्दर्य, प्रक्रिया, प्रभाव आदि से सबधित नियमो और सिद्धान्तों का विश्लेषण और विवेचन करता है, आलोचना उन सिद्धान्तो और नियमो को मानदण्ड या कसौटी के रूप में स्वीकार करती है। आलोचना निराकार नियमों और सिद्धान्तो की खोज नही करती वरन् कवि की कृति की व्याख्या या मूल्याकन करता है। आलोचना के किन्ही रूपो मे काव्य सिद्धान्त और अनुसधान सम्बन्धी बातों को प्रारम्भिक स्थिति पाई जाती है। काव्यशास्त्र

मे काव्य मे नियमो, सिद्धान्तों, वर्गीकरण भेद प्रभेद मानदण्ड, प्रयोजन, कारण आदि पर व्यापक रूप से विचार किया जाता है और आलोचना म कृति की व्याख्या और मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है। काव्यशास्त्र इस प्रकार आलोचना व सिद्धान्तो को भी अपने अंतर्गत समेट लेता है।'

(भावक) आलोचक के गुण एव उसका दायित्व

आलोचक के गुण बताते हुए वि सले ने कहा है—*To be a critic of literature is to possess a wide vision balanced mind and inex*haustible insight into the deepest secrets of human mind It leads to be sympathetic and yet alert to watch the wisdom unfaultering अर्थात आलोचक मे व्यापक दृष्टि, सतुलित मन, मानव मन का सूक्ष्म ज्ञान तथा सहानभूति और जागरूक तटस्थता आवश्यक है। आलोचक के लिए सबसे प्रमुख गुण है सहृदयता। सहृदयता के बिना का य का रसास्वादन नही होता। आलोचक का यह काम है कि वह आलोच्य ग्रंथ को बिल्कुल वास्तविक स्वरूप म देखे। उसे कवि की आत्मा मे प्रवेश करने की क्षमता होनी चाहिए और अकारण स्तुति एव निंदा से बचना चाहिए। सहृदयता को ही अंग्रेजी म Trained Taste या aesthetic appreciation कहा गया है। आलोचक के लिए भावयत्री प्रतिभा आवश्यक है। बिना विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य अच्छा विद्वान भी अच्छी समालोचना कर नही पाता। आलोचना एक प्रकार की कला है और उसके लिए विशेष प्रकार की शिक्षा या योग्यता होनी चाहिए। अन्तर्दृष्टि (insight) गुण के कारण आलोचक सच्ची आलोचना म समर्थ होकर कवि के द्वारा की गयी जीवनाभिव्यक्ति को पाठकों तक पहुचा देता है। विस्तृत ज्ञान होना भी आलोचक का एक प्रमुख गुण है। आलोचक को इतिहास का य शास्त्र दर्शन समाजशास्त्र मनोविज्ञान लोकशास्त्र आदि का विस्तृत ज्ञान आलोचना करने म सहायक होता है। आलोच्य विषय का सूक्ष्म ज्ञान होने पर ही वह उसकी बारीकियाँ समझ कर गुण दोषो की चर्चा कर सकेगा। विस्तृत ज्ञान के साथ सहानुभूति भी चाहिए। आलोचक वैज्ञानिक की भाँति निर्मम एव हृदयहीन होकर कवि कृति की चीरफाड न करे। *साहित्य म मूल कलाकार की आत्मा एव व्यक्तित्व प्रति*बिम्बित रहता है अत आलोचक को श्रद्धा अनुभूति एव सहानुभूति से काम लेना चाहिए। आलोचक का दृष्टिकोण विस्तृत उदार, गम्भीर और सहानुभूतिपूर्ण रहेगा तो उसकी आलोचना म याय होगा। आलोचक के लिए अनिवार्य गुण है निष्पक्षता (Disinterestedness) हडसन ने इस quality of

detachment and impartiality कहा है। इसके बिना आलोचना दूषित होती है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन मे जातिगत, वर्गगत, राजनीतिक, धार्मिक व सामाजिक पक्षपातों से प्रेरित रहता है। व्यक्तिगत राग द्वेष, पक्षपातो को लेकर की गई आलोचना निरर्थक और अग्राह्य होती है। अनुचित पक्षपात पूर्ण आलोचना सत्साहित्य की बहुत बडी हानि करती है। आलोचक को यथा चीन के समान नीर-क्षीर विवेकी होना चाहिए और दलबन्दी से अलग रहना चाहिए।

इसके अतिरिक्त बुद्धिमत्ता, गुणग्राहकता, औचित्य ज्ञान सच्चाई, निर्भयता, साहस, गम्भीरता, स्थिरता परिमार्जित एव परिष्कृत रुचि रसज्ञता आदि भी गुण आलोचक म होने चाहिए।

आलोचक का यह दायित्व है कि सत्साहित्य को प्रेरित करने वाले विचारों को प्रकट करना, परिवर्तित युग के साथ बदलती हुई चेतना को समझना और उसी आधार पर युगानुकूल साहित्यिक कृतियो की व्याख्या करना, और समाज से सम्बन्ध बनाया रखे। आलोचक भी साहित्य स्रष्टा के समान नवयुग का प्रवर्तक होता है इसीलिए उज्ज्वल भविष्य के सकेत देने का काय भी वह करता है।

आलोचना की विभिन्न प्रणालियाँ

प्रकार अथवा पद्धतियां—प्राचीन भारत मे टीकापद्धति भाष्यपद्धति शास्त्रीय पद्धति आचायपद्धति, निर्णयपद्धति खण्डनमण्डन पद्धति तथा समीक्षा पद्धति आदि आलोचना पद्धतियां प्रचलित थीं। यहा पाश्चात्य आलोचना प्रणालियां का विवरण दिया जाता है—

१–पाठालोचन—(Textual Criticism) पाठालोचन एव पुस्तक समीक्षा विशुद्ध आलोचनाए न होकर मिथ्या आलोचनाए (Pseudo Criticism) मानी जाती हैं। पाठालोचन पद्धति हिन्दी म अंग्रेजी प्रभाव के परिणाम स्वरूप प्रचलित हुई। अंग्रेजी म इस सबधी पर्याप्त काय हो चुका है। *पाठालोचन* का उद्देश्य प्राचीन पुस्तको के सही पाठ सम्पादन करना है। मुद्रण यन्त्र के पूर्व और भाषा के स्तरीकरण (Standardisation) के पहले लिखी गयी पुस्तकों का सही पाठ प्रस्तुत करना पाठालोचन का काय है। पाठालोचक को जिस ग्रंथ पर वह काम कर रहा है, उसकी समस्त उपलब्ध हस्तलिखित प्रतिया और सस्करणो को प्राप्त करना चाहिए और उस ग्रंथ की तत्कालीन भाषा और पुस्तका का अध्ययन कर शुद्ध पाठ प्रस्तुत करना चाहिए। इस प्रकार पाठलोचन की वैज्ञानिक पद्धति अपनानी चाहिये। अंग्रेजी म पाठालोचन का काय चासर, शेक्सपियर पर अधिक हुआ है। इन लेखका के ग्रंथों के पाठ

पाठालोचन की वैज्ञानिक पद्धति के पूर्व अत्यंत अशुद्ध थे। इस पद्धति के कारण और अनुसंधान कर्त्ताओं के परिश्रम के फलस्वरूप इन ग्रंथों के शुद्धपाठ उपलब्ध हो सकें। भारत में पंचतंत्र ऋग्वेद, रामायण महाभारत, हरिवंश पुराण आदि पर पाठालोचन कार्य हो चुका है। रायल एशियाटिक सोसायटी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट, आदि ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। हिन्दी में वैज्ञानिक ढंग से पाठालोचन के कार्य करने का श्रेय डा० माताप्रसाद गुप्त को है। इनके द्वारा संपादित 'रामचरित मानस और 'जायसी ग्रंथावली' के संस्करण हिन्दी पाठालोचन कार्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हिन्दी में पाठालोचन का कार्य प्रारम्भिक अवस्था में है और बहुत सा कार्य किये जाने की अपेक्षा रखता है।

२–आत्मप्रधान या प्रभावात्मक (Free or subjective criticism)– आलोचना–यह आलोचना स्वच्छन्द होती है और नियमों और बंधनों को लेकर नहीं चलती। आलोचक कृति के अध्ययन के बाद अपने ऊपर पड़े हुये प्रभाव का विश्लेषण करता है उसमें भावपूर्णता अधिक होती है। आलोचक किसी विशिष्ट पद्धति को न अपनाकर वैयक्तिक दृष्टिकोण से कृति का मूल्यांकन करता है इसी कारण इसे कुछ विद्वान उपादेय नहीं समझते। इसमें आलोचना से अधिक रचनात्मक साहित्य की विशेषताएं अधिक रहती हैं। इसमें भाव और कल्पना का जितना योग रहता है उतना विचार तत्व का नहीं रहता। इसमें आलोचक कल्पनात्मक अनुभूति के स्पंदनों को व्यक्त करता है। इस आलोचना का विरोध होने के कारण है—इसमें आलोच्य विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, आलोचक अपनी रुचि पाठकों पर लादता है, विचार नहीं होते आदि। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगों में इस शैली को ग्रहण किया गया था। एक उदाहरण देखिये–'सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर। देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर।" बिहारी सतसई के सम्बन्ध में यह दोहा कहा गया है।

३ व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive criticism)– इस प्रणाली का प्रचलन डा० मोल्टन ने किया है। उन्होंने वैज्ञानिक अन्वेषण और व्याख्या को ही आलोचना का आदर्श माना है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक कठोर नियमों, सिद्धान्तों, आदर्शों का त्याग करके कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और कवि के आदर्शों दृष्टिकोणों विशेषताओं तथा उद्देश्यों का उद्घाटन करता है। इस प्रणाली में सिद्धांत पक्ष गौण और व्याख्या और विश्लेषण पक्ष प्रधान होता है। आलोचक का कार्य न्यायाधीश का न मानकर अन्वेषक का इसमें माना जाता है। इसमें विभिन्न कृतियों की तुलना नहीं

होती और न श्रेष्ठ निकृष्टता का निर्णय किया जाता है। इसमें मन पर पड़े हुए प्रभाव को भी (Impressions) का भी प्रधानता नहीं होती। इस पद्धति में साहित्य को निर्जीव मानकर पूर्वप्रतिष्ठित निर्जीव सिद्धान्तों द्वारा उसकी परीक्षा नहीं की जाती। इसका सबसे सरल और प्रारम्भिक स्वरूप टिप्पणियों और भाष्यों में मिलता है। इस पद्धति के द्वारा नवीन सिद्धान्तों और नियमों के विकास-तथ्यों की खोज रहती है। यह आलोचना निर्णयात्मक सैद्धान्तिक आदि आलोचना का मूल है। इस प्रकार यह पद्धति श्रेष्ठ और उपयुक्त मानी जाती है। आचार्य शुक्ल जी की सूर, तुलसी और जायसी सम्बन्धी आलोचनाएँ अधिकांश इसी प्रकार की हैं।

४-निर्णयात्मक आलोचना (Judicial Criticism) शास्त्रीय आलोचना इसे शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। इसमें आलोचक न्यायाधीश की भाँति किसी कृति के सम्बन्ध में अच्छी बुरी श्रेष्ठ निकृष्ट सुन्दर असुन्दर, महान लघु आदि निर्णय देता है। आलोचक साहित्य सम्बन्धी विभिन्न शास्त्रीय नियमों सिद्धान्तों (जैसे अलंकार रीति रस आदि) के कसौटी पर किसी कृति को परखता है और आलोचना करता है। इसमें एक निश्चित मापदण्ड के अनुसार कलाकार की रचना पर आलोचक निर्णय देता है। मौल्टन ने इस प्रणाली का खण्डन किया है तो हडसन ने इसका मण्डन किया है। प्राचीनकाल में मम्मट, आचार्य विश्वनाथ आदि के ग्रंथों के आधार पर महाकाव्य आदि की आलोचना हो सकती है। इसमें कृति के माहात्म्य का मूल्यांकन अधिक होता है। बिहारी और देव को लेकर हिंदी में जो झगड़ा हुआ उसका मूल कारण निर्णयात्मक आलोचना ही थी। आज कल इस पद्धति को अधिक महत्व नहीं दिया जाता जितना व्याख्यात्मक आलोचना को दिया जाता है। इसी पद्धति के कारण साहित्य की प्रगति रोकी जा सकती है कारण इसमें कभी कभी नवीन नियमों का विरोध भी होता है। उदाहरण है–

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास,
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास।

५ तुलनात्मक आलोचना (comparative criticism)

सेन्टस्बरी जैसे कतिपय पंडितों ने इस समीक्षा को महत्वपूर्ण ठहराया है। महान आलोचक अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त जब अन्य भाषाओं से भली प्रकार परिचित होता है तब तुलना करना सम्भव होता है। इस प्रकार की आलोचना में दो या दो से अधिक कवियों की तुलना के द्वारा उनके गुणदोषों का विवेचन किया जाता है। कभी कभी एक कवि की विभिन्न रचनाओं की

तुलना की जाती है। इसके अंतर्गत अपनी रुचि के अनुसार किसी कवि के प्रति अन्याय भी किया जा सकता है। यह पद्धति किसी कवि को छोटा बड़ा सिद्ध करने की अपेक्षा एक ही प्रकार की विशेषताओं, नियमों और सिद्धांतों के प्रभाव को स्पष्ट करना होता है। अरसिक और अल्पज्ञानी व्यक्तियों द्वारा व्यवहृत होने पर यह पद्धति हास्यास्पद बन जाती है। संस्कृत में कालिदास और भवभूति को लेकर वाग्विवाद होता रहा है। बिहारी और देव की आलोचना से कटु वादविवाद होते रहे हैं।

६ ऐतिहासिक आलोचना (Historical Criticism)—कोई भी साहित्यकार अथवा कलाकार अपने युग की उपज होता है अतएव उस पर अपने युग की सांस्कृतिक राजनीतिक आर्थिक सामाजिक धार्मिक, दार्शनिक आदि परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। ऐतिहासिक आलोचना में आलोचक लेखक का सामयिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर उसके परिप्रेक्ष्य में लेखक अथवा कृति का मूल्यांकन करता है। साहित्य समकालीन इतिहास से संयुक्त होता है। किसी प्राचीन ग्रन्थ को आधुनिक युग के मानदण्डों के आधार पर कसना और निर्णय देना, उस कलाकार के प्रति अन्याय करना है। ऐतिहासिक आलोचना का किसी भी कवि या कृति के मूल्यांकन में बहुत बड़ा महत्त्व है और इसीलिए इसे सब देशों के साहित्यों में स्थान मिला है। पाश्चात्य आलोचना में ऐतिहासिक पद्धति पर सर्वाधिक बल टेन (Taine) ने दिया है। टेन ने जाति परिस्थिति तथा विशिष्ट काल को इस प्रणाली में महत्त्व दिया है। टी० एस० इलियट भी इसके समर्थक थे। आधुनिक हिन्दी आलोचना में इस पद्धति का बहुत प्रचलन हो रहा है। रामचन्द्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा श्याम सुन्दर दास, नन्ददुलारे वाजपेयी हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पद्धति का आश्रय लिया है।

७ जीवनीमूलक आलोचना—इसमें कवि या लेखक के जीवन चरित और उसकी साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन का समीकरण मिलता है। व्यक्ति का जीवन और उसकी कलाकृतियों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है उन्हें पृथक नहीं किया जाता। उन्नीसवीं शताब्दी में साँत्र्यो नाम के प्रसिद्ध फ्रेंच आलोचक ने इसको सफल व्याख्या कर लोकप्रिय बनाया। डा० जानसन ने इसका सूत्रपात किया है। इसमें लेखक के जीवन, स्वभाव और प्रवृत्तियों के आलोक में उसकी कृतियों का अध्ययन किया जाता है। यह ऐतिहासिक आलोचना का ही एक उपभेद है। कुछ आलोचकों के मतानुसार समस्त कला एक प्रकार की आत्मकथा होती है। आधुनिक हिन्दी आलोचना में इस पद्धति का अभाव है। श्री गंगा प्रसाद पाण्डेय की 'महाप्राण निराला' इसी श्रेणी के अंतर्गत है।

८ सद्धांतिक आलोचना-(Theoretical Criticism अथवा Speculative criticism) इसमें साहित्य कृतियों में सर्वांगीण आधारभूत सिद्धांतों एवं नियमों का निर्माण होता है। आलोचक अपनी प्रतिभा, बुद्धि और मनीषा के आधार पर समीक्षा करने के लिए सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इसीलिए आलोचना को साहित्यशास्त्र का दर्शन (Philosophy) और आलोचक को साहित्यिक दार्शनिक (Literary Philoso pher) कहते हैं। अंग्रेजी साहित्य में रिचर्ड्स क्रोचे आदि प्रख्यात सैद्धांतिक समीक्षक हैं। इसके अन्तर्गत सिद्धान्त और काव्यशास्त्र के ग्रन्थ आते हैं। मम्मट का काव्य प्रकाश, आनन्दवर्द्धन का ध्वन्यालोक श्यामसुन्दर दास का साहित्यालोचन आदि ग्रंथ इसके अंतर्गत आते हैं। रीतिग्रन्थ, लक्षणग्रंथ काव्यशास्त्र आदि के ग्रंथ इसी के अन्तर्गत आते हैं। हिन्दी में रामचन्द्र शुक्ल इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं।

९ मनोवैज्ञानिक आलोचना- (Psychological criticism) आधुनिक युग में इस पद्धति का प्रचलन द्रुतगति से बढ़ रहा है और मनोवैज्ञानिक प्रतिमान अधिकाधिक स्वीकार किए जा रहे हैं। मनोवैज्ञानिक मान्यताओं के प्रवर्तक हैं फ्रायड और युंग। फ्रायड ने यह प्रतिपादित किया कि कला अतृप्त कुंठाओं और वासनाओं की तृप्ति का साधन है। मनुष्य एक चेतनाशील प्राणी है और उसमें कामवासना नैसर्गिक होती है परन्तु वह नैतिक और धार्मिक बंधनों के कारण नियमित रहती है कारण मनुष्य सामाजिक प्राणी है और नैतिक नियमों का पालन करता है। हमारी वासनाएँ जो उपचेतन मन में पड़ी रहती हैं वे अनजाने कला या स्वप्न के माध्यम से व्यक्त होती हैं। आलोचक इसमें मनोविज्ञान की मान्यताओं को ध्यान में रखकर कविकर्म तथा साहित्यिक प्रभाव की व्याख्या होती है। वह कृति को Revelation of the personality of author' अर्थात साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रकाशन मानता है। फ्रायड के मत का अनुसरण करने वाले आलोचक इस प्रत्यक्ष दर्शन में हैं। युग की सामूहिक चेतना सम्बन्धी स्थापना के आधार पर अनेक पुराकथाओं और काव्य ग्रंथों का मूल्यांकन किया गया है। फ्रायडवादी समालोचना कवियों तथा साहित्यिक पात्रों के अध्ययन में विशेष उपयुक्त सिद्ध हुई है। और उसने आलोचनात्मक शब्दावली को भी समृद्धि बनाते हुए अधिक वैज्ञानिक बनाया है। आइ० ए० रिचर्डस इस प्रणाली के प्रवर्तक हैं। मनोविश्लेषणात्मक पद्धति मनोवैज्ञानिक आलोचना पद्धति की ही एक शाखा है। इस पद्धति ने साहित्यिक आलोचना को एक नवीन दिशा प्रदान की है। हिन्दी में इस पद्धति का प्रचलन हो चुका है—डा० नगेन्द्र, अज्ञेय आदि इस श्रेणी के प्रमुख आलोचक हैं।

१० स्वच्छन्दतावादी-सौष्ठववादी आलोचना—इसमे आलोचक मूल्यांकन करने का प्रयास नही करता बल्कि तटस्थ होकर अपनी स्वच्छन्द अनुभूतियों को आलोचना के क्षेत्र म उतारने का प्रयास करता है । स्वच्छन्दता और सौष्ठव इसके प्रमुख तत्त्व हैं और छायावादी विशेषताओ के आधार पर इसके मानदंड के तत्त्वो का निर्माण हुआ है । और इसकी प्रेरणा भी छायावादी रचनाओं म है । आलोचक रूढ और परम्परा व्यक्तित्व को मुक्त शैली मे सूक्ष्म सौंदर्य देखने का प्रयत्न करता है । कला कृति की श्रेष्ठत्व की समीक्षा सौन्दर्य तत्त्व के अनुसार की जाती है । इसमे कला को वैज्ञानिक व्यावहारिक एव नैतिक जगत से सर्वथा स्वतन्त्र माना जाता है । सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न होने वाला आनुषंगिक आनन्द ही काव्य की कसौटी है । इस पद्धति म प्रत्येक शब्द की वक्रता का अध्ययन बिम्बो तथा प्रतीको का वर्गीकरण एव उनके पारस्परिक सबधो की परीक्षा और तत्पश्चात इन बिखरे हुए तत्त्वो का सकलन । इस सप्रदाय की भाषा उत्तरोत्तर जटिल होती गई और कवि आशय की अपेक्षा उसकी व्याख्या दुरूह हो जाती थी । हिन्दी मे प्रसाद पन्त निराला, महादेवी वर्मा, नन्ददुलारे बाजपेयी शान्तिप्रिय द्विवेदी इस प्रणाली के प्रमुख आलोचक हैं ।

११ प्रगतिवादी आलोचना समाजवादी मार्क्सवादी-आलोचना (Progressive Criticism) उन्नीसवी शताब्दी म भौतिकविज्ञान दर्शन तथा समाजशास्त्र के विभिन्न अगो का अभूतपूर्व विकास हुआ फलस्वरूप साहित्य समीक्षा पर भी इनका प्रभाव पड़ा । साहित्य सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियो की उपज है और उसका उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नही है बल्कि सामाजिक अभ्युत्थान में योगदान भी देना है । इसका आधार समाजवादी यथार्थवाद अथवा मार्क्सवाद है । इसमे समाज का आर्थिक परिस्थितियां और वर्ग-संघर्ष की पृष्ठभूमि मे कृति का मूल्यांकन किया जाता है और उद्देश्य समाज का भौतिक कल्याण माना जाता है । इस प्रकार की आलोचना म ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यथार्थ सामाजिक चित्रण वर्गसघर्ष, दलितो के प्रति सहानुभूति आदि पर बल दिया जाता है और किसी कृति की श्रेष्ठता उपयुक्तता इसी कसौटी पर आँकी जाती है । स्पष्ट कृति का अतिरिक्त पक्ष सौन्दर्य कला पक्ष आदि की उपेक्षा की जाती है और सामाजिकता पर बल दिया जाता है अतएव वह एकांगी होकर सम्यक मूल्यांकन नही कर सकती । इस प्रणाली को उपयोगितावादी समीक्षा भी कहते हैं । काडवेल ने 'इल्यूजन एण्ड रियालिटी' । रचना म मार्क्सवादी कविता सबन्धी कहा है—Poetry is regarded then not as something racial national genetic or specific in its essence but as something economic अर्थात कविता के मूलधारात्व जातीय और

देशगत नहीं मानने चाहिएँ। उसका वास्तविक महत्त्व उपयोगिता में सन्निहित है। इसमें यथार्थवाद को महत्त्व है। हिंदी में यह आलोचना पद्धति छायावाद के ह्रास के साथ प्रारम्भ हो गयी। अमृतराय, डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह भगवतचरण उपाध्याय आदि इस श्रेणी के प्रमुख आलोचक हैं। प्रगतिवादी आलोचना के प्रवर्तक हैं—मक्सिम गोर्की।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि समीक्षा की अनेक प्रणालियाँ अपूर्ण और एकांगी हैं-जैसे प्रगतिवादी आलोचना में सामाजिकता के अत्यधिक आग्रह से व्यक्ति नगण्य बन जाता है तो मनोविज्ञान आलोचना में भौतिकवाद की उपेक्षा होती है और ऐतिहासिक समीक्षा में व्यक्ति को प्रधानता मिलती है। अतएव सक्षम समालोचना के लिए यथास्थान अधिक से अधिक प्रणालियों का समन्वय वांछित है।

प्रकरण ८

शब्द–शक्ति

वाङ्मय के मूलतत्त्व शब्द और अर्थ

वाङ्मय के मूलतत्त्व शब्द और अर्थ हैं। शब्द और अर्थ के बिना साहित्य का निर्माण होना असम्भव है। सार्थक शब्दों द्वारा ही साहित्यकार अपने विचारों, भावों, कल्पनाओं, अनुभूतियों को वाणी देता है। शब्द और अर्थ का अभिन्नत्व प्रकृति और पुरुष के समान है। किसी एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व ही नहीं होता। अग्नि और उष्णता अथवा चन्द्र और चाँदनी की जो अभिन्नता है वही शब्द और अर्थ की है। साहित्य शब्दों द्वारा ही लिखा जाता है। शब्द के माध्यम के बिना न कुछ लिखा जाता है न कुछ विचार किया जाता है। हमारे मन में जीव जगत की किसी वस्तु अथवा भाव के सम्बन्ध में जो प्रतिक्रियाएँ उठती हैं वे शब्दों को लेकर उठती हैं। शब्द की शक्ति असीम है। शब्द, उच्चारण के साथ ही हमारे मन, कल्पना और अनुभूति पर प्रभाव डालता है। इमली के नाम से मुँह में पानी आता है तो साँप शब्द के उच्चारण से ही मन में भय का संचार होता है। यह प्रभाव अर्थगत है। जिस शक्ति के द्वारा यह अर्थगत प्रभाव पड़ता है उसे शब्दशक्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं व्यवहार में जब शब्द से कोई निश्चित अर्थ मान लिया जाता है उसको संकेत कहते हैं। किन्तु कुछ शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं तब वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द का अर्थ अनेक अर्थों में से कौन सा लिया जायगा इसका ज्ञान प्रसंग से अथवा वाक्य के अन्य शब्दों के साथ उसके सम्बन्धों से होता है। इस शब्द और अर्थ के इसी सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं। वाक्य के अन्तर्गत अन्य शब्दों के सान्निध्य, वार्तालाप, संयोग, स्थल या समय के अनुसार अथवा कहने या सुनने वालों की दृष्टि आदि अनेक बातों से किसी शब्द का अर्थ समझा जाता है। यदि किसी शब्द के कई अर्थ होते हैं तो उनमें से कौन सा एक ही अर्थ ग्रहण किया जाय इसके लिए वाक्य अथवा पद के अन्तर्गत अन्य शब्दों के संयोग, साहचर्य, विरोध, प्रकरण (प्रसंग) अन्य शब्दों की निकटता, सामर्थ्य, औचित्य, देश काल व्यक्ति और स्वर का आश्रय लेना पड़ता

है। यद्यपि शब्द सार्थक और निरर्थक होते हैं, वाक्य के भीतर कोई भी शब्द निरर्थक नहीं होता। शब्द या शब्द समूह जब प्रयोग के लिए उपयुक्त होता है तब पद कहलाता है और पूर्ण अर्थ प्रकाशित करने वाला पद समूह वाक्य है। भारतीय काव्य शास्त्र में शब्द शक्ति का बड़ा वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। शब्द शक्तियाँ तीन हैं—अभिधा-लक्षणा और व्यंजना। कुछ आचार्य तात्पर्य वृत्ति भी एक और भेद मानते हैं। उक्त तीन शक्तियों के अनुसार तीन शब्द माने गए हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक और अर्थ तीन माने गए हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। संक्षेप में—वाक्य में प्रयुक्त सार्थक शब्द के अर्थ बोधक व्यापार के मूलकारण को शब्दशक्ति कहते हैं—

अभिधा

साक्षात संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं। किसी शब्द को सुनते ही हमें पहले उसके साधारणतया प्रचलित शब्द अर्थ का बोध होता है उसे अभिधा कहते हैं। शब्द की जिस शक्ति के कारण किसी शब्द का (साधारण प्रचलित) मुख्य (संकेतित) अर्थ समझा जाता है उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। मुख्य या प्रथम अर्थ का बोध कराने के कारण अभिधा शक्ति को मुख्या या अग्रिमा कहते हैं। जिस शब्द से मुख्य अर्थ का बोध होता है वह वाचक और उससे निकलने वाला मुख्य अर्थ वाच्यार्थ होता है। वाच्यार्थ के साक्षात संकेतित अर्थ मुख्यार्थ अथवा प्रसिद्धार्थ नाम हैं। अभिधा शक्ति द्वारा जिन शब्दों की अर्थ व्यक्ति होती है वे तीन प्रकार के माने गए हैं—रूढ़ यौगिक योगरूढ़। रूढ़— इन शब्दों की कोई व्युत्पत्ति नहीं होती—जैसे पशु, चंद्र वृक्ष आदि। यौगिक—इनकी व्युत्पत्ति हो सकती है अर्थात ये प्रकृति और प्रत्यय से बनते हैं—जैसे तरुजीवी नरपति आदि। योगरूढ़—ये शब्द यौगिक होकर भी उनका अर्थ रूढ़ होता है। योगरूढ़ शब्द का एक विशिष्ट अर्थ होता है। पंकज, पयोद घनधर खग आदि। पंकज का अर्थ है—कीचड़ में जन्म लेने वाला—अनेक पौधे मेंढक कीचड़ में पैदा होते हैं किन्तु पंकज का अर्थ रूढ़ि द्वारा कमल निश्चित हुआ है। खग का अर्थ है आकाश में गमन करने वाली—कोई भी वस्तु हवाई जहाज तक। किन्तु रूढ़ि द्वारा इसका अर्थ 'पक्षी' होता है। वाचक शब्द के चार भेद हैं—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति।

द्रव्य अर्थात् व्यक्तिवाचक शब्द है—हिमालय, गंगा राम आदि। गुण अर्थात विशेषणवाची शब्द सुन्दर निपुण आदि। क्रिया को निमित्त मानकर प्रयुक्त होने वाले शब्द—लेन देन हास-परिहास आदि। जाति वाचक शब्द—वृक्ष पशु आदि।

भट्टनायक आदि अभिधा को महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि

अनुभूति कराने में अभिधा शक्ति प्रधान है। देव 'अभिधा उत्तम काव्य है' माना है।

शब्दों को विशिष्ट अर्थ कैसे प्राप्त होता है इसका उत्तर भाषा शास्त्रियों ने विविध उपपत्तियों द्वारा देने का प्रयत्न किया है किन्तु सभी असफल रहे हैं। अन्त में 'अस्मात शब्दात अयं अर्थ बोद्ध य इति ईश्वरेच्छा' को ही संकेतित माना है। ईश्वरी संकेत से अर्थात इच्छा से विशिष्ट शब्द का विशिष्ट अर्थ सम्पन्न हुआ। यह मत मान्य नहीं हो सकता। कारण नवीन वस्तुओं के लिए हम नए संकेत या अर्थ निश्चित करते हैं, इसमें ईश्वर की इच्छा नहीं होती। नयी पारिभाषिक शब्दावलि से यह स्पष्ट होगा कि मानव ही शब्दों के नये संकेत निर्माण करता है और प्राचीन काल में भी उसने ही निर्माण किए होंगे।

अर्थात संकेतितार्थ का स्वरूप अतात्विक है क्योंकि कु धातु से कवि और कौवा शब्दों की उत्पत्ति हुई और उन्हें वे विशिष्ट अर्थ प्राप्त हुए परन्तु वे ही अर्थ क्यों प्राप्त हुए इसका कोई कारण नहीं दिया जा सकता और कवि का अर्थ कौआ क्यों नहीं हुआ इसके संबंध में भी कुछ नहीं कह सकते। सारांश संकेत का स्वरूप अतात्विक और स्वच्छंद है।

लक्षणा

जिसमें अभिधा शक्ति से संकेतितार्थ (निश्चय अर्थ) नहीं किया जाता किन्तु इसी से संबंध रखने वाला दूसरा अर्थ लिया जाता है तब उसे लक्षणा कहते हैं। मैं भवभूति का अध्ययन कर रहा हूं में भवभूति नाम का व्यक्ति यह अर्थ न होकर भवभूति का काव्य यह अर्थ होता है। अर्थात यह दूसरा अर्थ मुख्य अर्थ से किसी न किसी प्रकार से सम्बन्धित होता है। लक्षणा शक्ति को उपचार और भक्ति ये अन्य नाम हैं। लक्षणा से सम्बन्धित तीन बातें हैं—(१) मुख्यार्थ या वाच्यार्थ की बाधा (२) रूढ़ि या प्रयोजन (३) उससे सम्बन्धित अन्य अर्थ। उदाहरणार्थ बृहस्पति भी ऐसे उल्लुओं को नहीं समझा सकते। इसमें उल्लू का अर्थ पक्षी विशेष नहीं क्योंकि ऐसा करने से वाक्य की संगति नहीं बठती अतएव यहाँ उल्लू शब्द का मुख्यार्थ न लेकर उल्लू की भाँति अत्यन्त मूर्ख यह लिया है—जो उल्लू नामक पक्षी से सम्बन्धित है। इस दूसरा अर्थ देने में वक्ता का कुछ विशेष प्रयोजन है। अत्यन्त मूर्ख अथवा तादृश अन्य शब्दों से या वाक्यांश से उसका अर्थ नहीं चलता इसीलिए वह उल्लू शब्द का प्रयोग करता है।

लक्षणा के मूल में– सामीप्य सम्बन्ध आधार आधेय, कार्य कारण, अवयव अवयवी तारतम्य एवं ताद्रूप्य सम्बन्ध आदि होते हैं। लक्षणा के मुख्य प्रकार दो हैं –(१) रूढ़ा (२) प्रयोजनवती। प्रयोजनवती के दो भेद (१) गौणी

(२) शुद्धा । इन दोनों के दो दो उपभेद हैं (१) उपादान (२) लक्षण लक्षणा। इन चारो के दो दो उपभेद हैं सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार आठ भेद हुए चार गौणी के और चार शुद्धा के।

(१) रूढ़ा लक्षणा–मुख्यार्थ को छोड कर जहाँ पर रूढि या प्रचलन के कारण अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है वहाँ रूढा लक्षणा होती है। इसके अंतर्गत सभी भाषाओं के मुहावरे एवं लोकोक्तियां आ जाती हैं जैसे कोल्हू का बैल, गोबर गणेश, आंखों का तारा आदि। इसके अन्तर्गत अपना वाच्यार्थ छोड़कर केवल एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ बन गए हैं ऐसे शब्द भी आ जाते हैं– कुशल (निपुण अर्थ में–कुश लाने वाले अर्थ में नहीं)। पंकज (कमल अर्थ में)। इसी आधार पर रूढा लक्षणा 'अभिधा पुच्छ भूता' कहलाती है। रूढि लक्षणा में लक्षणा की विशेषता नहीं रह जाती। इसलिए इसके भेदों का विस्तार नहीं हुआ।

प्रयोजनवती लक्षणा–जहाँ मुख्यार्थ किसी प्रयोजन के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए वहाँ यह लक्षणा होती है। इसके भेदों पर चर्चा करेंगे–।

(१) गौणी लक्षणा–इसमें मुख्य अर्थ की बाधा होने पर सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है। इस लक्षणा में उपमा रूपक जैसे सादृश्य मूलक अलंकारों की विशेषता आ जाती है।

उदाहरण–पग पग मग अगमन परति चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया के फूल।

(२) शुद्धा लक्षणा–इसमें मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के द्वारा अर्थ ग्रहण किया जाता है। ये सम्बन्ध सामीप्य साहचर्य क्षणागि आदि होते हैं। कार्य कारण सम्बन्ध का उदाहरण देखिये–सम्पत्ति ही सुख है। अब उपभेद देखेंगे —

(१) गौणी उपादान लक्षणा सारोपा–यह युवक शेर है।

(२) गौणी उपादान लक्षणा साध्यवसाना–मानो यह चन्द्र ही (रमणी मुख रूपी) भूतल पर अवतरित हुआ है।

(३) गौणी लक्षण लक्षणा सारोपा-स्वर्ण किरण कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन।

(४) गौणी लक्षण लक्षणा साध्यवसाना फूले कमलन यो अली बिहँसि चित इहि ओर।

(५) सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा–ये झंडे कहाँ जा रहे हैं

(६) सारोपा शुद्धा लक्षण लक्षणा–आलस्य ही मनुष्य का महा शत्रु है।

(७) साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा—घटना स्थल पर लाल पगड़ी दिख ई पड़ती है।

(८) साध्यवसाना शुद्धा शुद्धा लक्षणा

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

व्यंजना

कभी कभी अभिधा और लक्षणा से वाक्य का अर्थ नहीं खुलता। ऐसी स्थिति में जिस शक्ति से अभिप्रेत अर्थ तक पहुँच होती है उसे व्यंजना कहते हैं। काव्य में इसी शक्ति का सबसे अधिक प्रयोजन पड़ता है। ऐसे शब्दों को व्यंजक और अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। व्यंजना शब्द का अर्थ है—विशेष रूप से स्पष्ट करना, खोलना या विकसित करना। इसका प्रसिद्ध उदाहरण—गंगा में गाँव। इसका अर्थ देने में अभिधा असमर्थ है क्योंकि गंगा में गाँव नहीं हो सकता। लक्षणा से अर्थ हुआ गंगा के पास गाँव परन्तु इसके बाद भी पवित्र शीतल गाँव समझना यह व्यंजना शक्ति के द्वारा ही संभव है। व्यंजना द्वारा प्रकट अर्थ अभिधा शक्ति से अनेकार्थी शब्दों द्वारा निकलने वाले अर्थ से भिन्न है। संयोग, साहचर्य, प्रकरण आदि के द्वारा अनेकार्थी शब्दों का निश्चय हो जाता है। अभिधा और लक्षणा का सम्बन्ध केवल शब्द से है परन्तु व्यंजना का सम्बन्ध शब्द और अर्थ से है। अर्थ से भी अर्थ निकलता है। व्यंजना को समझने के लिए प्रतिभा, प्रसंग ज्ञान, बहुश्रुतता, चतुर व्यक्तियों का सत्संग आवश्यक है। शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार में रहने के कारण व्यंजनाशक्ति के दो प्रमुख भेद हो गये हैं—(१) शाब्दी (२) आर्थी।

शाब्दी व्यंजना के उपभेद हैं—(१) अभिधामूलक (२) लक्षणामूला।

जहाँ पर शब्द की प्रधानता होती है और जहाँ पर शब्द विशेष के कारण व्यंग्यार्थ निकलता है और उस शब्द के स्थान पर अन्य शब्द के रखने से अर्थ न हो वहाँ पर शाब्दी व्यंजना होती है।

(१) अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना—अभिधामूला व्यंजना उसे कहते हैं जिसके द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के उस अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है जो संयोग, विप्रयोग आदि क्रियात्मक कारणों द्वारा अवाच्य घोषित हो चुका हो।

उदा० चिर जीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥

इसमें वृषभानुजा और हलधर के बीर से राधा और श्रीकृष्ण अर्थ निश्चित हो जाता है किन्तु इसके अतिरिक्त गाय और बैल और यह जोड़ी अनुरूप है ऐसी परिहासात्मक जो व्यंजना है वह शब्दों के कारण है। स्मरण रहे कि श्लेष

अलंकार और शाब्दी व्यंजना में भेद है। श्लेष में शब्द के दोनों अर्थों पर कवि का समान रूप से ध्यान रहता है वह उन दोनों का बोध कराना चाहता है, परन्तु शाब्दी व्यंजना में वाच्यार्थ ही प्रधान होता है। दूसरे अर्थ का आभास मात्र इष्ट होता है।

(२) लक्षणामूला व्यंजना—जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणा मूला व्यंजना कहते हैं। उदाहरण है गंगा में गाँव है—जिसका अर्थ गंगा के निकट पवित्र और शीतल गाँव है।

आर्थी व्यंजना—जहाँ व्यंजना किसी विशेष शब्द पर अर्थ निर्भर नहीं रहता अर्थात् उस शब्द का पर्याय रखने पर भी वह बनी रहे तब आर्थी व्यंजना होती है। आर्थी व्यंजना—वक्ता बोद्धव्य (श्रोता) काकु, वाक्य, अन्यसंनिधि, प्रकरण, देशकाल चेष्टा आदि के कारण अर्थ का बोध कराती है।

उदा० सीता राम से कहती है—

मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू। तुम्हहिं उचित तप मो कहुँ भोगू॥'

इसमें काकु की विशेषता है—और एक उदाहरण देखिये—कैसा भरा हुआ सरोवर है कि लोग लोट लोट कर नहा रहे हैं—अर्थात् सरोवर में पानी नहीं है।

तात्पर्यार्थ (तात्पर्य वृत्ति) कुछ लोग शब्दों का तात्पर्य अर्थ भी मानते हैं। कोश में शब्द का स्वतन्त्र अर्थ होता है, किन्तु व्यवहार में केवल शब्द अकेला व्यवहृत नहीं होता बल्कि अन्य शब्दों के साथ आ जाता है। इन शब्दों के अर्थों की क्रिया-प्रतिक्रियायें एक दूसरे पर होकर कुछ तात्पर्य अर्थ निकलता है। वस्तुतः यह वाक्यार्थ होता है पदों का अर्थ नहीं होता सभी पदों के अर्थ करने पर जो अर्थ होता है वह तात्पर्य अर्थ है। तात्पर्यार्थ और व्यंग्यार्थ भिन्न भिन्न है। व्यंग्यार्थ के अभाव में भी तात्पर्यार्थ रहता है। संक्षेप में अभिधा वृत्ति द्वारा वाक्यगत प्रत्येक शब्द का वाच्यार्थ ज्ञात हो चुकने के उपरान्त जिस वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ—तात्पर्य—का ज्ञान होता है उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं।

प्रकरण ९

भारतीय-काव्य सिद्धान्त (मानदण्ड)

रस सिद्धान्त

रस निरूपण रस सख्या—भरत मुनि ने आठ रसो का निरूपण किया है तो उदभट का उसमे शा त रस मिलाकर रस सख्या नौ मानी जाती है। भोज ने परम्परागत नौ रसो मे प्रेयात उदात्त और उद्धत को मिलाकर बारह रसों का और विश्वनाथ ने केवल वात्सल्य' को मिलाकर दस रसो का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार से भक्ति, माया आदि रसो को मिलाकर रस सख्या २४ तक बढ जाती है। हम यहाँ केवल नौ रसो का साधारण परिचय देंगे। शृगार हास्य करुण रौद्र वीर, भयानक, बीभत्स अदभुत और शान्त।

(१) शृगार—शृगार श ्द की व्युत्पत्ति शृङ्ग धातु स हुई है और अथ है कामो द्रेक। शृगार का अथ कामोद्रक की प्राप्ति। सस्कृत साहित्य म शृगार को प्रमख स्थान मिला है और उसे रसराज कहा गया है। अग्निपुराण में सब रसा का मूलाधार शृगार को कहा गया है। भोज तो रस को एक मात्र रस मानते हैं शृगार का स्थायीभाव रति है। शृंगार का प्रभाव तुरन्त पडता है। शृगार का वण श्याम देवता विष्णु माने गये हैं। शृगार के दो भेद हैं—सयोग और विप्रलम्भ अथवा वियोग। आलम्बन नायक-नायिका उद्दीपन ऋतु सौन्दय उपवन आदि हैं। अनुरागपूव भ्रकुटि भग कटाक्ष अनुभव और उग्रता आलस्य मरण सचारीभाव हैं। नवरसा म किसी भी रस के दो पक्ष नही हैं। शृगार द्वारा साधारणीकरण अ य रसों की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र म दिखाई पडता है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियो म भी रति भाव का प्राधा य मिलता है।

वियोग या विप्रलम्भ शृगार—जहाँ पर रति स्थाई स्वप्न चित्र, श्रवण आदि से प्रकट होता है और प्रिय से सयोग नहीं होता वह वियोग शृगार है। विरह की अभिलाषा, चिन्ता स्मृति गुणकथन उद्वेग प्रलाप, उ माद, व्याधि जडता मरण वियोग की य दस मानसिक दशायें हैं। वियोग के तीन रूप हैं। पूवराग, मान प्रवास। उर्मिला का विरह वणन देखें—

> सखि मुझे यही है रोना
> किसे खिलाऊँ अलोना सलोना

पूवराग—सयोग होने स चित्र, स्वप्न आदि द्वारा होता है मान सयोग होने के पश्चात् रूठने स और प्रवास-देशान्तरगमन से होता है।

(२) हास्य—रूप आकार वाणी वेश और काय आदि के विकृत हो जाने पर हास्य की उत्पत्ति होती है। इसके देवता शंकर और वर्ण श्वेत माना गया है। हास्य की उत्पत्ति शृंगार से मानी जाती है।

आलम्बन—विकृत वेश, आकार, रूप मूखता के कार्य आदि। उद्दीपन—हास्यजनक वस्तु या व्यक्ति की चेष्टायें। अनुभाव—आखों और मुख का विकसित होना, खिलखिलाना आदि। सचारी हर्ष, अश्रु, रोमाच, कम्प, हर्ष, निद्रा आदि। स्थायीभाव—हास। भेद—स्वनिष्ठ परनिष्ठ तथा स्मित हसित, विहसित अवहसित, अपहसित और अतिहसित। उदा०

> चिरजीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
> को घटि य वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥

(३) रौद्र रस—स्थायीभाव क्रोध। आलम्बन—शत्रु या कपटी दुराचारी व्यक्ति। उद्दीपन—कटु अपमान निंदा से भरे वचन। अनुभाव—आरक्त नेत्र, दाँत पीसना, हथेली मलना, ललकारना आदि। सचारी—उन्माद, गर्व, ईर्ष्या, असूया आवेग आदि। रौद्ररस के देवता रुद्र और वर्ण लाल। उदाहरण—

> सुनत लखन के वचन कठोरा। परसु सुधार धरेउ कर घोरा॥
> अब जनि देइ दोष मोहि लोगू। कटुवादी बालक वध जोगू॥
> राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लखन बहुरि मुसकाने॥
> हँसत देखि नख सिख रिस व्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी॥

(४) वीर रस—स्थायीभाव—उत्साह। आलम्बन—शत्रु याचक दीन ऐश्वर्य यश आदि। उद्दीपन—ललकारना शत्रु का प्रभाव, शक्ति अहंकार आदि। अनुभाव—रोमांच स्वयं म य को प्रेरित करना आदि। सचारी—गर्व, तर्क स्मृति उग्रता, धैर्य हर्ष, दया आदि। इस रस का देवता—महेन्द्र, वर्ण—सोने के समान गौर। इसके चार भेद हैं—युद्धवीर, दानवीर दयावीर और धर्मवीर। उदाहरण—तुलसीकृत—गीतावली—हनुमान कहते हैं—

> जो हौं तब अनुशासन पावौं।
> तो चन्द्रमहिं निचोरि चल ज्यों आनि सुधा सिरि नावौं।

(५) अद्भुत रस—स्थायीभाव—विस्मय। आलम्बन—अलौकिक, विचित्र दृश्य या वस्तु आदि। उद्दीपन—जादू माया—आलम्बन के विस्मयकारी वर्णन दृश्य आदि। अनुभाव—नेत्र—विस्फारण रोमांच अवाक् हो जाना आदि। सचारी—औत्सुक्य, हर्ष, चपलता भ्रम आवेग आदि। इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा इसके देवता गन्धर्व और वर्ण पीत हैं। कुछ इसे रसराज मानकर सब रसों का आधार मानते हैं। उदाहरण—

घन बरसत कर पर धरयो, गिरि गिरधर निशंक ।
अजब गोप सुत चरित लखि सुरपति भयो सशंक ।।

(६) भयानक रस—स्थायीभाव–भय । आलम्बन—हिंसक जीव, निर्जन स्थान, भूत प्रेत आदि । उद्दीपन भयानक आलम्बन की चेष्टायें आदि । अनुभाव-प्रलय चीखना, विवशता, स्वेद रोमांच आदि । संचारी–शंका, त्रास जुगुप्सा, मूर्च्छा, दीनता आदि । रस के देवता भूत पिशाच रंग काला । उदाहरण–लंका दहन दृश्य देखिये—

बहुधा लखि ज्वाल कुलाहल भो पुर लोग सब दुख ताप तयो ।
यह एक दशा लखि लंकपती अति संक दसो मत मूर्छि गयो ।।

(७) वीभत्स रस—स्थायीभाव–जुगुप्सा या घृणा । देवतामहाकाल रंग नील वर्ण । आलम्बन–घृणोत्पादक वस्तु–रुधिर मांस आदि । उद्दीपन–दृश्य, कृमि दुर्गंध आदि । अनुभाव–थूकना नाक सिकोड़ना मुँह फेरना । संचारी –निर्वेद ग्लानि व्याधि, विवशता चिन्ता मूर्च्छा आदि । इसका वर्णन अन्य रसों के सहायक रूप में आता है । उदाहरण—

कहुँ सगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत ।
कहुँ कोउ सब पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत ।।
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे ।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे ।।

(८) करुण रस—स्थायीभाव–शोक । आलम्बन–नायक नायिका वियोग पराजय आदि । उद्दीपन–दुःखपूर्ण दशा का श्रवण दर्शन । अनुभाव–रोना, भूमिपतन छाती पीटना मूर्च्छा आदि । संचारी–ग्लानि मोह स्मृति विषाद दैन्य आदि । देवता–यम–रंग कपोतवत । संस्कृतकवि भवभूति ने करुण एव एको रस कहकर करुण रस की महत्ता प्रदर्शित की है । करुणरस अत्यन्त प्रभावशाली है । कुछ विद्वानों का कहना है कि सभी रसों में करुण रस किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान है । इस रस में भाव तादात्म्य की शक्ति अन्य रसों की अपेक्षा अधिक होती है । करुण रस विश्व व्यापी रस है और उसमें सबको आकृष्ट कर लेने की अपूर्व क्षमता है । उदाहरण–प्रियप्रवास के सप्तम सर्ग का है–यशोदा कहती है—

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है
दुःख जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है ।
अब तक जिस को मैं देखके जी सकी हूँ
वह हृदय हमारा नेत्रतारा कहाँ है ।

९ शान्तरस—स्थायीभाव निर्वेद । आलंबन संसार की निस्सारता और क्षणभंगुरता । उद्दीपन, सत्संग तीर्थस्थान, तपोवन, आश्रम आदि । अनुभाव रोमांच अश्रु पश्चाताप आदि ।

संचारी—धैर्य, मति, स्मरण, बोध इस रस के देवता—विष्णु रंग शुक्लवर्ण । इस रस के आदि प्रवर्तक वासुकि माने गये हैं । अभिनव गुप्त ने इसे सर्वश्रेष्ठ रस माना है । उदाहरण—तुलसी का विनय का पद देखिये—

> मैं तोहिं अब जान्यो संसार
> बाँधि न सकहिं मोहिं हरि के बल प्रगट कपट-आगार ।
> देखत ही कमनीय कछू नाहिं न पुनि कियो विचार ।
> ज्यों कदली तरु-मध्य निहारत कबहूँ न निकसत सार ।।

रसांगों का (रससामग्री) अथवा रस-उपकरण का परिचय

रसनिष्पत्ति विभाव, अनुभाव व्यभिचारी के संयोग से होती है इसके साथ ही स्थायीभाव और सात्त्विक भाव भी रस सामग्री के अंतर्गत ग्रहण किए जाते हैं । हम विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, स्थायीभाव सात्त्विक भाव के स्वरूप को देखेंगे—

विभाव—शास्त्र में वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु कारण अथवा निमित्त को विभाव कहते हैं । विभावन का अर्थ है विशेष ज्ञान । स्थायी एवं व्यभिचारी चित्तवृत्तियों अथवा रस का विशेष रूप से ज्ञापित कराने के कारण ही इन्हें विभाव कहा जाता है । विभाव के दो भेद हैं— (१) आलम्बन (२) उद्दीपन । विशेष रूप से जो भावों को प्रकट करते हैं, वे विभाव हैं । स्थायी भावों के प्रकट होने से जो मुख्य कारण होता है उसे आलम्बन विभाव कहते हैं । इसे विषय भी कहते हैं । आलम्बन के दो भेद हैं (१) विषय (२) आश्रय । इन्हें अवलंबन करके स्थायी भाव जाग्रत होते हैं । आलंबन विभाव ही वास्तविक रसभूमि है । इन आलम्बनों की कोई सीमा निर्धारित नहीं है । इसी कारण सभी रसों के लिए अनेकानेक नवीन आलंबनों का परिचय प्राप्त हो सकता है । उद्दीपन विभाव में प्रकट हुए स्थायी भाव को और अधिक प्रबुद्ध उद्दीप्त और उत्तेजित करने वाले कारण होते हैं । रस के अनुकूल इनके ललित, रूप आदि आठ भेद होते हैं । इन उद्दीपनों की संख्या गिनाई नहीं जाती । उदाहरणतः यदि शकुन्तला को पुष्पवाटिका में प्रातःकालीन

वायु का सेवन करते, पुष्पों की सुगंध लेते, दुष्यन्त का मन उसकी ओर आकर्षित हो जाता है और उसके मन में प्रेम की लहर दौड़ जाती है तो उस समय शकुन्तला आलंबन राम आश्रय और वर्णित वातावरण उद्दीपन विभाव है।

अनुभाव तथा हाव–ये भावों के पश्चात उत्पन्न होते हैं पर न्तु वे भाव सूचक होते हैं। वाणी और अंगों के अभिनय द्वारा जिससे अर्थ प्रकट हो, वे अनुभाव हैं। इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है। उदाहरणत प्रेम भावना की प्रतीति से जो कायिक, वाचिक और मानसिक परिवर्तन दिखाई देते हैं वे ही अनुभाव हैं। प्राचीन आचार्यों ने अनुभवों के अन्तर्गत ही अलंकारों की गणना की है और हाव को भी अनुभाव के अन्तर्गत रखे हैं। भानुदत्त ने कायिक, मानसिक, आहार्य तथा सात्त्विक अनुभवों का नामकरण किया है। भ्रू-नेत्रादि विकार हाव हैं। सात्त्विक भाव आठ हैं–स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, कम्प, अश्रु, स्वरभंग और प्रलय (मूर्च्छा)। समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति होती है। उदाहरणत दुःख तथा सुख की वास्तविकता के बिना रोदन रूप दुःख तथा हर्ष रूप सुख कोई प्रकट नहीं कर सकता। सभी भाव सत्त्वज होते हैं इसलिए सभी को साधारणतया सात्त्विक कहा जाता है। ये व्यभिचारी भावों से श्रेष्ठ हैं। मुँह का लाल होना दाँत पीसना आदि अनुभवों के अन्तर्गत हैं।

संचारी या व्यभिचारी भाव–स्थायी भाव के साथ साथ संचरण करने वाले भावों को संचारी भाव कहते हैं। यहाँ संचरण शब्द का प्रयोग ले जाने के अर्थ में हुआ है। व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के परिपोषक तथा उन्हें रसावस्था तक पहुँचाने वाले होते हैं। अस्थिरता भी उनका एक गुण है। स्थायी भाव प्रमुख हैं और संचारी भाव उनके सहायक मात्र हैं। स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव सागर और तरंगों के समान हैं। सागर में जैसे तरंगें निर्माण होती हैं और विलीन हो जाती हैं। उसी प्रकार स्थायी भाव समुद्र में संचारी भाव की लहरें निर्माण होती हैं और विलीन हो जाती हैं। संचारी भावों को अचिर क्षणिक स्थायी में उपकारक मतिरती कहा गया है। एक संचारी का कोई एक स्थायी भाव या रस से सम्बन्ध नहीं रहता वरन् अनेक रसों में देखा जा सकता है जो उनका व्यभिचरण है। संचारी भाव मोह करुण, रौद्र अद्भुत भयानक रस में आता है। व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ मानी गई है कुछ ३४ भी मानते हैं। वे हैं निर्वेद ग्लानि शंका असूया मद श्रम आलस्य दैन्य चिन्ता मोह स्मृति धृति व्रीडा, चपलता हर्ष आवेग जड़ता गर्व, विषाद औत्सुक्य निद्रा, सुप्ति अपस्मार विबोध अमर्ष अवहित्था, उग्रता, मति, वितर्क, व्याधि, उन्माद, त्रास मरण। चौंतीसवाँ

'छल' माना जाता है।

स्थायी भाव—जो भाव रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरे रहते हैं और उसे निमग्न कर डालते हैं वे स्थायी भाव कहलाते हैं। स्थायी भाव अन्य भावों द्वारा दबने वाले नहीं होते और जब तक मन में होते हैं, उनका ही प्राधान्य रहता है और अन्य भाव विरोधी या अविरोधी केवल उनके पोषक होकर आते हैं। स्थायी भाव अन्य भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता बल्कि उन्हें अपने में मिला लेता है। स्थायी भाव जन्मजात हैं और समस्त प्राणियों में वासनात्मक रूप से इनकी विद्यमानता स्वीकार्य है। वे अन्य भावों को अपने वशवर्ती रखते हैं। इन में चिरकाल स्थायित्व आप्रबन्ध स्थायित्व अथवा अविच्छिन्न प्रवाहमयता होती है। ये चर्वणा योग्य हैं-आनन्ददायी हैं। इनमें आस्वाद्यत्व, उत्कटत्व, सर्वजन सुलभत्व पुरुषार्थोपयोगित्व और उचित विषय निष्ठत्व या औचित्य ये पांच विशेषताएँ होती हैं। ४१ भावों में अगणित मनुष्यों में राजा बनने वाले व्यक्ति के समान आठ स्थायी भाव रसत्व पाते हैं। वस्तुतः जो भी भाव प्रबल और देर तक रहने वाले हों, वे सभी रसत्व की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। डा० वाटवे सेंटिमेंट का स्थायी भाव मानते हैं वस्तुतः स्थायी भावों का साम्य इंस्टिक्ट्स (Instincts) से अधिक है। भरत ने रति, हास, क्रोध उत्साह भय जुगुप्सा, विस्मय, शोक ये आठ स्थायी भाव माने हैं। शम या निर्वेद यह स्थायी भाव शांत रस का माना जाता है। क्षोभ और क्रांति को क्रमशः मराठी के आ० रा० दा० पाडे और आ० वाबडकर जी ने प्रक्षोभ एवं क्रांतिरस के स्थाई भाव माने हैं वे स्वीकृत नहीं किये जाते।

कोई विभाव मात्र को रस मानता है तो कोई अनुभाव मात्र को, कोई व्यभिचारी मात्र को, तो कुछ स्थायी भाव को। वास्तविक रस की पूर्ण निष्पत्ति में उपर्युक्त सभी रसांगों की स्थिति होना आवश्यक है।

रस का स्वरूप काव्यस्यात्मा रस

साहित्यिक क्षेत्र में रस का जो परिमाण स्वीकार किया गया है उसकी कल्पना रस्यते इति रस ह्लावायल्भ्वाऽऽनन्दी भवति के आधार पर जान पड़ती है। भौतिक रूप में रस इन्द्रिय विषयजन्य आस्वाद का बोधक है और मानसिक रूप में वह सर्वथा अलौकिक सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय होने के साथ ही आस्वाद रूप भी है। रस नाट्य में प्रधान है और उसके बिना कोई नाट्यार्थ प्रवर्तित नहीं हो सकता 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'। नाट्य में रस सुगन्ध तथा सौन्दर्य का विधायक है। रस की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—दस आस्वादरूप हैं सहृदय जिसका रसन या भोग करता है यह आस्वाद सत्वोद्रेक की स्थिति में होता है, जिसकी परिणति चित्त की विश्रांति, लय और

समापत्ति म होती है। रस निर्विघ्न, अखड चिन्मय, अन्यज्ञान रहित, स्वप्रकाश लोकोत्तर, चमत्कार प्राण और ब्रह्मास्वाद सहोदर होना है।

भोजनास्वाद रसेंद्रिय का व्यापार है और का यास्वाद मानस व्यापार है रसास्वाद के लिए चित्तवत्ति की एकाग्रता अनिवाय है। रस अभिन्न रूप स आस्वाद रूप है। रस सामग्री के विभिन्न अगा विभाव अनुभाव आदि की प्रतीति सहृदय का खड खड रूप म न होकर रसिक का रसास्वाद अखड एकघन प्रतीति क रूप म होता है। भरत के पूव भी रस की चर्चा होती थी। 'आस्वाद्यत्वा द्रस' रस का अथ आस्वाद है। जसे भोज्य और पेय पदार्थों का स्वाद लिया जाता है वसे ही का य रस का स्वाद लिया जाता है। रस के आधार भाव हैं। रस को काव्य की आत्मा कहा जाता है। रस एक प्रकार की चित्तवत्ति है। भावो में रस की एकाग्रता विशेष रूप से रहती है। वह एकाग्रता साधारण ज्ञान म नहीं पाई जाती। भावो की स्थिति म मानसिक क्रिया अत्य त तीव्र हो जाती है। विशेष भावो के उद्दीप्त और उद्बुद्ध होन पर रसो की निष्पत्ति होती है। रसास्वाद सात्त्विक होता है उस रजतम गुणो का स्पश ही नहीं रहता रस आस्वाद और चवणा समानार्थी समझना चाहिए। किसी पय मे इलायची मिला केला और जम्बीर द्रव सुग ध पदाथ आदि एस परिमाण से सम्मिलित किय गए हो कि जिससे सबका एक अपूव आस्वाद चवणा हो। उस पेय विशेष के समान ही रस कहलाता है। रस परब्रह्म क समान है। वह अदभुत लोको त्तर सौंदयसभूत परम मधुर परम रमणीय समष्टि है। वह अति मदुल पवित्र विचित्र द्रव्य है।

रस का ऐतिहासिक विकासक्रम

रस सिद्धा त का सबसे प्राचीन उ लेख भरतमुनि के नाटयशास्त्र म मिलता है। उनक पूव भी रस की चचा होती थी। भरतमुनि क पूव सामा यत का यान द के रूप म रस का वणन किया जाता था। भरतमुनि ने उसे शास्त्रीय प्रतिष्ठा दी। राजशेखर ने नदिकेश्वर को रस सिद्धा त का प्रवतक माना। भामह का का यालकार रस विरोधी है। रस के सम्ब ध म भरत का सूत्र है तत्रविभावानुभाव यभिचारी सयागाद्रसनिष्पत्ति। रसमच पर (तत्र) विभाव अनुभावादि से सयुक्त होकर रसनिष्पत्ति होती ह। भामह और दडी अलकारवादी थे उनके अनुसार रस तथा भावादि भी शब्दाथ के चमत्कार की परिधि म आ जाते हैं और उसी रूप म ग्राह्य है। अलकारवादी आचार्यों के समय म भी लोल्लट और शकुक न रस का समथन किया। भटट नायक ने लोल्लट और शकुक के मतो का खडन किया और रस को व्यावहारिक भूमिका

प्रदान की। भट्टतौत ने नाट्य स्थित रस का विवेचन किया तो अभिनवगुप्त ने रस को आस्वाद रूप में ग्रहण किया। राजशेखर, धनञ्जय, आनन्दवर्धन क्षेमेन्द्र ने रस के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। परवर्ती काल में मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर और पंडितराज जगन्नाथ इन्होंने रस को रसध्वनि के रूप में स्वीकार किया अर्थात असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के रूप में। विश्वनाथ, शारदातनय, रामचन्द्र गुणचन्द्र भानुदत्त रसवादी थे। १६ वीं शती में बंगाल के वैष्णव आचार्यों में गोस्वामी और जीवगोस्वामी ने वैष्णव मत के आधार पर रस सिद्धान्त की विवेचना की है। संस्कृत के बाद प्राकृत अपभ्रंश तथा रीतिकालीन हिन्दी ग्रन्थों में स्वतन्त्र रीति से रस की विवेचना नहीं मिलती। आधुनिक काल में वाटवे बार्लिंग, देशमुख गन्ध देशपांडे आदि ने मराठी में, रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय रामदहिन मिश्र बलदेव उपाध्याय, डा० नगेन्द्र आदि ने हिन्दी में रस का गम्भीर और विश्लेषणात्मक विवेचन किया है। आधुनिक काल में रस सिद्धान्त का विवेचन मनोविज्ञान समाजशास्त्र तथा योरोपीय काव्य परम्परा के सन्दर्भ में किया है।

रस विषयक भरतमुनि का सूत्र उसकी प्रमुख व्याख्याएँ रसनिष्पत्ति

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत का सूत्र प्रसिद्ध है—विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्ति अर्थात विभाव और अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में प्रयुक्त संयोग' और निष्पत्ति' विवाद के विषय रहे हैं। भट्टलोल्लट शंकुक भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने इनकी अपने अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की है।

लोल्लट का उत्पत्तिवाद—लोल्लट का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अभिनव भारती में लोल्लट का मत दिया है। लोल्लट को मीमांसक [illegible] जाता है और उनका रस व्याख्या मीमांसा से प्रभावित मानी जाती है। [illegible] उनके मत पर मीमांसा दर्शन का कोई प्रभाव नहीं है। [illegible] विभवादि का स्थायी भाव से संयोग हो जाने पर रस निष्पत्ति [illegible] विभाव रस की उत्पत्ति में कारण स्वरूप है। स्थायी भाव [illegible] विभवादि के कारण उपचित अवस्था का नाम रस है। [illegible] संभव नहीं है। यह रस मुख्यतः अनुकार्य अर्थात [illegible] है। किंतु उनके रूपानुसंधान वश यह अनुकर्ता [illegible] है। संयोग शब्द के लोल्लट के अनुसार तीन [illegible] सम्बन्ध (२) अनुमाप्य अनुमापक भाव सम्बन्ध [illegible]

रस मूल पात्र में स्थित होता है, नट तो केवल उसका प्रदर्शन करता है। विभाव रस से उत्पन्न होता है अतएव विभाव और रस में उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध है। व्यभिचारी भाव रस को पुष्ट करते हैं इसलिए उनमें पोषक-पोष्य सम्बन्ध है। कटाक्षादि अनुभावों के द्वारा उत्पन्न भावों का अनुमान माना गया है अतएव दोनों में अनुमापक और अनुमाप्य सम्बन्ध है। उक्त तीनों सम्बन्धों के आधार पर निष्पत्ति शब्द के क्रमशः उत्पत्ति, पुष्टि और अनुमिति तीन अर्थ किए गए हैं।

निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है। अनुसंधान का अर्थ है आरोप, अभिमान या योजन। लोल्लट के मतानुसार रस मूल नायक-नायिका या अनुकार्य में रहता है। अर्थात् नट मूल नायक-नायिका की वेषभूषा, वाणी, क्रिया आदि से अनुकरण करता है जिससे उनमें रस की प्रतीति होती है और प्रेक्षक चमत्कृत होकर आनन्दित हो जाते हैं पर प्रेक्षकों के हृदय में रस नहीं होता। इस आरोपवादी सिद्धान्त पर ये आक्षेप उठाए जाते हैं—(१) इसमें सामाजिक (प्रेक्षक) तटस्थ रहता है, वह दोषपूर्ण है। (२) उत्पत्ति में सदैव कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है। यह सम्बन्ध ठोस प्रत्यक्ष वस्तुओं में ही सम्भव है। किन्तु अभिनय के अवसर पर विभावादि जो कारण रूप हैं प्रत्यक्ष नहीं होते। कारण के प्रत्यक्ष न होने पर कार्य की उत्पत्ति कैसे होती है। (३) उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध मानने पर करुणरस में प्रमुख में शोक स्थायी से आनन्द रूप करुण की उत्पत्ति स्वीकार नहीं कर सकते। जब बीज पेड़ बबूल का आम कहाँ से आवें। लोल्लट ने दो बातें नयी दीं—एक रस लौकिक अनुभव है, रस को उद्दीप्त अनुभूति माना पदार्थ नहीं।

श्री शंकुक का अनुमितिवाद (अनुकृतिवाद)

शंकुक ने उत्पत्तिवाद का खंडन करते हुए अनुमितिवाद का प्रतिपादन किया। इस मत का आधार न्यायदर्शन का अनुमान प्रमाण है। शंकुक का मत है—रस वस्तुतः अनुकार्य है रामादि वास्तविक पात्रों में ही होता है। परन्तु प्रेक्षक नट में उसका अनुमान करके प्रसन्न होता है। विभाव कारण स्वरूप होते हैं, अनुभाव कार्य रूप तथा व्यभिचारी भाव सहकारी होते हैं। नट नाना प्रकार के द्वारा कृत्रिम वास्तविक अवास्तविक स्थायी भाव प्रयत्नपूर्वक [illegible] होता है। इसी नाट्य में लगा चातुर्य के कारण अवास्तविक भावों का प्रदर्शन करता है और उसके द्वारा प्रदर्शित कृत्रिम तथा अनुकरण रूप विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी। [illegible] वही जो [illegible] चित्रित समझकर उसका अनुमान करता हुआ कि विभावादि के होने से कारण है, नट में ही रस है आनन्द प्राप्त

करता है। स्थायीभाव का अनुकरण नहीं होता, उसका अनुमान मात्र किया जाता है। स्थायीभाव की विलक्षणता का बोध कराने के लिए उसे 'रस' कहा गया है। चित्र-तुरग-न्याय के अनुसार (जैसे चित्र के घोड़े को घोड़ा ही कहते हैं उसी प्रकार) प्रेक्षक अभिनेता को नायक समझता है और नायक की मनोवृत्तियों का उसमें आरोप कर स्वयं रसास्वाद करता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नट की दृष्टि में विभावादि अनुकारक हैं और रस अनुकार्य है तथा सहृदय की दृष्टि से विभावादि अनुमापक या गमक हैं और रस अनुमेय या गम्य है। नटादि रस का अनुभव नहीं करते, केवल प्रदर्शन करते हैं। इसलिए यद्यपि अनुभवादि हेतु तो हैं मगर रस अनुमेय विद्यमान नहीं है। ऐसी स्थिति में रस की अनुमिति एक मिथ्या अनुमिति है। इस पर अनेक आक्षेप किए गए हैं—

(१) वस्तुतः चमत्कार पूर्ण आनन्द का प्रत्यक्ष ज्ञान ही मिलता है वह अनुमान से नहीं।

(२) उत्पत्तिवाद के समान ही अनुमितिवाद में भी रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती।

भट्टलोल्लट ने शंकुक के मत का खंडन करते हुए कहा है कि अनुकरण केवल वेशभूषादि जड़ पदार्थों का ही हो सकता है स्थायी आदि आंतर भावों का नहीं। प्रेक्षक अथवा अनुकर्त्ता के द्वारा अस्पष्ट रामादि के भावों का अनुकरण अकल्पनीय है। नट को रामानुकारी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने राम को देखा तक नहीं है। सादृश्य के आधार पर रसानुमिति की सिद्धि नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह कहा जा सकता है बहुत से आलंबनादि ऐसे होते हैं जिनके प्रति हमारी भावना सदैव प्रबल रहती है, जैसे राम सीता आदि। इनकी रति भावना आदि में अपने व का अनुभव नहीं कर सकते। भ्रम और मिथ्यानुकरण सिद्धांत एक साथ नहीं रखे जा सकते। चित्र तुरगादि न्याय हास्यास्पद है क्योंकि इसका बच्चा नहीं। इस सिद्धांत में सब कुछ कल्पित और कृत्रिम है। फिर भी यह कहना होगा कि रसनिष्पत्ति के संबंध में शंकुक भट्टलोल्लट के कुछ आगे बढ़े हैं।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद और अनुमितिवाद का खंडन किया और आनन्दवर्धन का ध्वनि और व्यंजना का सिद्धांत भी अग्राह्य मानकर भुक्ति सिद्धांत का समर्थन किया। भट्टनायक के अनुसार रस भोग होता है और इसके लिए उसने तीन व्यापारों की कल्पना की है—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व[1] उसने प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है। सांख्यवादी

परम्परा में भट्टनायक गिने जाते हैं। अभिधा को उन्होंने ज्यों का त्यों स्वीकार किया। किसी काव्य का पाठ सुनते या करते, अथवा दृश्य देखते हुए सबसे पहले जिस शक्ति का सहारा सामाजिक को प्राप्त होता है वह है अभिधा। अभिधा के द्वारा सहृदय को नाटकादि के सामान्य अर्थ का ज्ञान होता है। इसके बाद भावकत्व व्यापार का कार्य आरम्भ होता है। इस व्यापार के अन्तर्गत भट्ट नायक ने साधारणीकरण की प्रतिष्ठा की है। भावकत्व के द्वारा विभाव अनुभाव आदि व्यक्ति सम्बन्ध से मुक्त होकर साधारण अर्थात् मनुष्य मात्र के अनुभव योग्य बन जाते हैं। उनमें कोई विशेषता नहीं रहती। भावकत्व व्यापार की दो विशेषताएँ हैं—एक निज मोह का विनाश दूसरी विभावादि का साधारणीकरण। साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है साधारण करना। जैसे-जैसे नाटक अग्रसर होता है तो एक ओर तो पात्रों के वशिष्ट्यों का लोप होने लगता है दूसरी ओर प्रेक्षक को अपने पृथक सीमित और संकुचित व्यक्तित्व का एहसास नहीं रहता। एक ओर तो विभवादि साधारण होने लगते हैं और दूसरी ओर दर्शक के मोह का विनाश होने लगता है। शुक्ल जी ने इसे हृदय की मुक्तावस्था कहा है। प्रेक्षक के मोह का विनाश और विभवादि का साधारणीकरण एक ही व्यापार के दो छोर हैं। ये दोनों व्यापार एक साथ होते हैं। साधारणीकृत भाव ही भावित रस है। भावित होकर रस विशेष रूप से साक्षात् होता है इसका नाम भोग है। रस का भोग होता है अर्थात् वह आस्वाद्य है आस्वाद रूप नहीं है। भोगीकरण की अवस्था में सत्वगुण का उद्रेक होना है निष्पत्ति का अर्थ हुआ भावित होना या भावित। विभवादि के साथ संयोग होने पर स्थायीभाव भावित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है—यही रस निष्पत्ति है। भट्टनायक पर आक्षेप लगाए जाते हैं कि उन्होंने जो भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना की है उसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है और रस ज्ञान रूप होता है और भोग सुखरूप अतएव रस के भोग की बात जँचती नहीं। भट्ट नायक ने सत्वोद्रेक विश्रान्ति रस को पर ब्रह्म सहोदर और सबसे अधिक साधारणीकरण के सिद्धांत के रूप में एक बहुत बड़ा योगदान साहित्य जगत को दिया है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सिद्धान्त की त्रुटियाँ दिखाकर रस सूत्र को शैव सिद्धांत की पृष्ठभूमि पर स्थापित किया है। भट्टनायक ने सारा महत्त्व केवल काव्य शक्तियों को ही दिया। अभिनव गुप्त ने इस त्रुटि को ध्यान में रखकर रस का सीधा सम्बन्ध सामाजिक के भावों से बताया। उन्होंने सामाजिक के हृदय में पूर्व से ही स्थित कतिपय वासना रूप संस्कारों की कल्पना की है। इस परिपोष के लिए सामाजिक में

अनादि वासना की आवश्यकता है। यह वासना सब में होती है। वासना संवाद ही रस का मुख्य हेतु है। इन्हीं वासनागत संस्कारों को स्थायी भाव कहा जाता है। न्यूनाधिक रूप में यह सभी प्राणियों में जन्म जात रूप में पाए जाते हैं। रसास्वाद के लिए विघ्नों का अपसरण नितान्त आवश्यक है। जब तक सामाजिक (सहृदय) हृदय वीतविघ्न स्थिति में न पहुँचेगा तब तक रसास्वाद की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः रस तो विघ्न प्रतीति ही है। तटस्थता विषयावरणादि के अपसृत हो जाने पर रस साक्षात् हृदय में प्रवेश करता सा जान पड़ता है। अभिनवगुप्त ने हृदय को रस निष्पत्ति और रसास्वाद का केन्द्र बनाया। जिस प्रकार पानी छिड़कने से सूखी मिट्टी से सोंधी महक निकलने लगती है उसी प्रकार विभावादि के प्रभाव से सामाजिक में वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायी भाव रस रूप में परिणत हो जाते हैं। विभावादि व्यंजक हैं और रस व्यंग्य। प्रत्येक व्यक्ति के मन में वासना रूप में सभी भाव विद्यमान रहते हैं जब वे जीवन में व्यक्त होते हैं तो भाव कहलाते हैं और जब वे काव्य द्वारा व्यक्त होते हैं तो रस कहलाते हैं। अभिनवगुप्त ने रस को आस्वादरूप या व्यक्तिनिष्ठ माना है। जो रस है वही रस भोग है। वे भावकत्व और भोगीकरण दोनों व्यापार ध्वनि में अंतर्भुक्त कर देते हैं। रसास्वाद के समय सहृदय सामाजिक स्व-पर व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त होकर एक विशेष प्रकार के आनन्द की प्रतीति करता है। यह प्रतीति साधारणीकरण के धरातल पर होती है। रस ब्रह्मानन्द सहोदर है। अभिनव के मतानुसार रस की अभिव्यक्ति और उसकी मुक्ति में कोई अन्तर नहीं होता। अभिव्यक्ति भोग रूप ही होती है। रस आत्मानन्द का ही एक रूप है। इस प्रकार वासनागत संस्कार वीतविघ्नता साधारणीकरण की व्यापकता आनन्द प्राप्ति में विभावादि का योग आदि कई बातों में मौलिकता का परिचय देते हुए अभिनवगुप्त ने नवीन और संगत सिद्धांत की स्थापना की।

पंडितराज जगन्नाथ तथा अन्य

रससूत्र की व्याख्याओं में सर्वाधिक मान्यता अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवादी सिद्धान्त को मिली। अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्य मम्मट पंडितराज जगन्नाथ ने भी इसी मत का सहारा लेकर अपने मतों को व्यक्त किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने उसमें नवीनता लाने का प्रयास किया है। विद्वानों ने उनका मत वेदान्त भूमि पर आधारित माना है। पं० जगन्नाथ ने अपनी बात को सकोरे के दृष्टान्त से समझाने की चेष्टा की है। जिस प्रकार सकोरे से ढका हुआ दीपक, उससे हटा देने से पार्श्ववर्ती सभी पदार्थों को प्रकाशित कर देता है, साथ ही साथ स्वयं प्रोद्भासित हो उठता है उसी प्रकार आत्मा

का चैतन्य विभावादि से पुष्ट रति आदि को प्रकाशित करता है और स्वयं प्रोद्‌भासित हो उठता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त और मम्मट आदि के ग्रंथों के वास्तविक तात्पर्य के अनुसार अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है, उससे युक्त रति आदि स्थायी भाव ही रस है यह सिद्ध हुआ। पं० जगन्नाथ के अतिरिक्त अनेक रस निष्पत्ति सम्बन्ध में मत मिलते हैं, जिनका उल्लेख स्वयं पं० जगन्नाथ ने किया है। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने अपने रस सिद्धांत स्वरूप और विश्लेषण ग्रंथ में पृष्ठ १२६ से १३३ पर इनका उल्लेख किया है।

साधारणीकरण

रस निष्पत्ति के साथ ही साधारणीकरण का सम्बन्ध है। कुछ मूलभूत प्रश्न हैं—(१) राम सीतादि पूज्य व्यक्तियों की इत्यादि में रसास्वादन करने के लिए सहृदय कैसा समर्थ होता है? राम और दुष्यन्त तथा हमारे देश और काल का विराट व्यवधान होते हुए भी उनके भाव किस प्रकार आस्वाद्य बन जाते हैं? (२) करुण रस का स्थायी भाव शोक है जो दुःखात्मक है तो फिर वह रसरूप में कैसे अनुभूत होता है? (३) जब विभावादि प्रत्यक्ष नहीं होते तो फिर उनसे साक्षात रसानुभूति कैसे होती है?

इन सबका प्रामाणिक समाधान है साधारणीकरण। भट्टनायक के पूर्ववर्ती आचार्यों में साधारणीकरण की चर्चा नहीं मिलती यह तो भट्टनायक की ही देन है। भट्टनायक ने कहा है–विभावादि से साधारणीकरण होता है और भावकत्व का प्राण है। भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायीभाव रस रूप में परिणत हो जाता है। साधारणीकरण रसास्वाद के पूर्व की प्रक्रिया है यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत कर देती हैं। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में संशोधन कर साधारणीकरण के सम्बन्ध में इस प्रकार विवेचना की है—साधारणीकरण विभावादि तथा स्थायीभाव का भी होता है। साधारणीकरण अर्थात् स्थायीभाव का साधारणीकरण। स्थायीभाव के साधारणीकरण का अर्थ है देशकाल के बंधन व्यक्ति संसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति चेतना के कारण ही भाव प्रतीति में सुखदुःखात्मकता का समावेश होता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुखदुःख की भावना भी नष्ट हो जाती है। कला के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण सामूहिक क्रिया है। गोविन्द ठक्कुर ने इस ओर स्पष्ट किया है। भावकत्व का अर्थ है—साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायीभावों का साधारणीकरण होना है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना

स्थायीभाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति । इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात आश्रय आलम्बन उद्दीपन अनुभाव स्थायी तथा संचारी सभी का साधारणीकरण होता है ।

डा० नगेन्द्र ने इसे रामचरित मानस बालकाण्ड दोहा २२६ से २३१ तक अच्छी तरह समझाया है । भूप बाग मे सुन्दर वसतऋतु के समय म नाना मनोहर विटप, सुन्दर सुन्दर बेलियाँ नव पल्लव से सुशोभित कुसुम थे । चातक कोकिल, चकोर आदि पक्षी मधुर ध्वनि कर रहे थे । बाग के मध्य मे सुन्दर सरोवर था और उसके स्वच्छ जल म अनेक बहुरंगी कमल खिले हुए थे । भ्रमरियाँ गुंजन करती थी । ऐसे समय पर पार्वती पूजा के लिय सीता वहाँ आई उसकी नूपुर की ध्वनि सुनकर राम ने लक्ष्मण से कहा—मानो यह मदन दुंदुभि लगती है, मानो विश्वविजय की है और तब सीता का मुख चन्द्र और अपने नयन चकोर राम को लगे । सीता का सौंदर्य देखकर राम उसकी हृदय से प्रशंसा करने लगे । तब लक्ष्मण ने कहा—जिसके कारण धनुष्यज्ञ हो रहा है वही यह जनकतनया है । उपवन म अपने सौंदर्य का प्रकाश करते हुए सीता सखि समेत आई हैं । लक्ष्मण के बातो को सुनकर मुखकमल के सौन्दर्य मकरंद का राम का मन मधुप सम पान करने लगे । ' यहाँ राम आश्रय है सीता आलम्बन है वासंती वसंत से समृद्ध जनक वाटिका उद्दीपन है राम के पुलक आदि अनुभाव हैं रति स्थायी है और हर्ष, वितर्क मति आदि संचारी है । उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग की रसास्वादन प्रक्रिया म इन सभी का साधारणीकरण हो जाता है । आश्रय राम म साधारणीकरण का अर्थ है कि वे राम न रहकर रतिमुग्ध सामान्य पुरुष बन जाते हैं उनके देश और काल तथा उनसे अनुबद्ध वैशिष्ट्य तिरोभूत हो जाते हैं और नारी के सौंदर्य से अभिभूत सामान्य किशोर मन उभरकर सामने आ जाता है । आलंबन सीता के साधारणीकरण का आशय भी बहुत कुछ ऐसा है । अर्थात उनका भी देशकाल अवच्छिन्न, वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है और सामान्य कामिनीरूप शेष रह जाता है । अनुभाव के साधारणीकरण से अभिप्राय यह है कि राम की चेष्टाएं राम स सम्बद्ध न रहकर सामान्य मुग्ध पुरुष की चेष्टायें बन जाती हैं । इसी प्रकार रत्यादि स्थायी भाव और हर्ष वितर्क आदि संचारी भाव भी एक ओर राम सीता स और दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलंबन से सम्बद्ध नहीं रह जाते वे वैयक्तिक रागद्वेष से मुक्त हो जाते हैं । उपर्युक्त प्रसंग मे जो रति स्थायी भाव है वह न राम की सीता के प्रति रति है न सहृदय की सीता के प्रति और न सहृदय की अपने प्रणय पात्र के प्रति यह तो निर्मुक्त रतिभाव है, जिसमे स्वपर की चेतना निःशेष हो चुकी है । मूलत यह सहृदय का स्थायी

भाव है परन्तु साधारणीकरण के कारण व्यक्ति चेतना से निर्मुक्त हो गया है। इस प्रकार रस के अवयवों में जो मूर्त हैं वे विशेष से सामान्य बन जाते हैं और जो अमूर्तभाव रूप हैं वे व्यक्तिससर्गों से मुक्त हो जाते हैं—विभावों की देशकाल से बन्धन से मुक्ति होती है। और भावों की स्व पर की चेतना से। *(डा० नगेन्द्र—साधारणीकरण—भारतीय काव्य शास्त्र पृ० ९५ ९६)*

संस्कृत के परवर्ती आचार्य इन्ही बातों को दुहराते रहे केवल विश्वनाथ और जगन्नाथ ने अपने विवेचन में कुछ मौलिकता दिखायी है। विश्वनाथ ने *स्थायीभाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है।* विश्वनाथ ने विभवादि के साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से प्रमाता भी समुद्र लाँघते हुये हनुमान के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित करके उसी प्रकार अनुभव प्राप्त करता है। इस प्रकार आश्रय तथा प्रमाता में तादात्म्य हो जाता है। प० जगन्नाथ ने अद्वैतवाद पर आधारित दोष दर्शन सिद्धान्त या भावना दोष—साधारणीकरण की विवेचना की है। उन्होंने उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—सहृदयता के कारण मन में विशेष की उत्पत्ति रूप दोष के प्रभाव से हमारी अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्त से आच्छादित हो जाती है, यह आच्छादकत्व ही भावना दोष है।

जाति वय, लिंग स्थान काल रुचि आदि भेद में भी अभेद उपस्थित करने वाले साधारणीकरण सिद्धान्त के बल पर सभी सामाजिक एक सा अनुभव करेंगे। काव्य में अलौकिकता यही है कि इन भेदों को प्रश्रय नहीं मिलता। काव्यभूमि अभेद एकता और पूर्ण मानवता की भावभूमि है। वासना संस्कार एवं सहृदय की योग्यता और औचित्य पर रस सिद्धान्त टिका हुआ है। हिन्दी में रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। वे कवि सहृदय पात्र और भाव सभी का साधारणीकरण मानते हैं और इनमें आलंबन को महत्वपूर्ण मानकर उसी के साधारणीकरण पर अधिक जोर देते हैं। उन्होंने लिखा है 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। (चिन्तामणि—पृ० ३०८) डा० भगवद्प्रसाद मिश्र ने साधारणीकरण का सम्बन्ध योग की मधुमती भूमिका से माना है। डा० भगवद्प्रसाद जी का अनुकरण डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। उन्होंने साहित्यालोचन में लिखा है— कवि के समान सहृदय भी जब उस मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है तब उसकी भी वृत्तियाँ उसी प्रकार एक रूप हो जाती हैं। कवि और पाठक की चित्तवृत्तियों का एक तान एक रूप हो जाना

ही साधारणीकरण है। इस योग भूमिका को साहित्य क्षेत्र में ले आने से बात और कठिन बन जाती है। गुलाबराय ने कवि पाठक और भाव ये तीन तत्व साधारणीकरण माने हैं। डा० नगेन्द्र ने कवि की भावना को साधारणीकरण माना है।

मराठी लेखकों ने इस पर अपने विचार प्रगट किए हैं और अधिकांश लोग तादात्म्य के पक्षपाती हैं। साहित्यसम्राट न० चि० केलकर ने सविकल्प समाधि की कल्पना की है तो प्रा० य० जोशी ने 'आत्मक्रीडा आत्मरति' सिद्धान्त का प्रचार किया। द० के० केलकर ने स्वायत्त तादात्म्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका खण्डन करके प्रा० रा० श्री जोग ने सहानुभूति पूर्वक तादात्म्य सिद्धान्त को प्रस्तावित किया। बाबा कालेलकर ने अनासक्त तन्मयता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रा० ना० सी० फड़के ने पुनः प्रत्यय तथा कृ० पा० कुलकर्णी ने प्रत्यभिज्ञा सिद्धांत को प्रस्तुत किया है। साधारणीकरण के आगे तादात्म्य की कल्पना में अनेक कठिनाइयाँ और दोष हैं। वस्तुतः अखण्ड अनुभूति ही रस है। संक्षेप में कवि, पाठक दर्शक सम्बन्ध और भाव सभी का साधारणीकरण होता है।

रसास्वाद

प्रा० जोग के अनुसार रसास्वाद का अर्थ है भावना जागृति। रसिक किसी एक भावना का आस्वाद लेता है वही रसास्वाद है। दुष्यन्त शकुन्तला का शृंगार देखकर सामाजिक की चित्तवृत्तियाँ चलित होकर उसे भी कुछ मात्रा में शृंगार का अनुभव मिलता है और सुख होता है। इसी प्रकार होने वाली भावना जागृति और उसका अनुभव ही रसास्वाद है। सामाजिक के मन में भावना जागृति होने के लिए काव्य में उन भावनाओं के चित्र प्रभविष्णु और सुन्दर चित्रित होने चाहिये। सामाजिक को नवरसों का साक्षात करने के लिए काव्य में भी वे प्रभावशाली चित्रित होने चाहिये। रस एक प्रकार की चित्तवृत्ति है और वह अनुकूल संवेदना के स्वरूप में अर्थात सुख स्वरूप की होती है। रस परब्रह्मास्वाद के समान अखण्ड रहता है।

शंकुक का यह मत है कि दर्शकों को रंगमंच पर का अभिनेता उसके अभिनय चतुरता के कारण प्रत्यक्ष नाटक का नायक लगता है और अभिनेता जिन भावनाओं को अभिव्यक्त करता है उनको मूल नायक की भावनाएँ मानकर, प्रेक्षक उन पर विश्वास करता है और इसी कारण वह रसास्वाद ले सकता है। संक्षेप में शंकुक ने मूलपात्रों में रस की स्थिति मानी है और आरोप या अनुमान द्वारा रसास्वाद संभव बनाया है। भट्टनायक ने काव्यशक्तियों को महत्व देकर उनके बल पर सत्वोद्रेक के सहारे रसास्वाद की स्थिति बनायी है। भट्टनायक की यह विशेषता रही है कि उसने साधारणी

करण द्वारा भोजकत्व व्यापार द्वारा रसिक को रसास्वाद होता है यह बताया है । अभिनव गुप्त ने सहृदय में रस की स्थिति स्वीकार की और उसी को रसास्वादकर्ता भी माना है । डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने नारंगी के उदाहरण द्वारा इसे समझाया है । उन्होंने लिखा है कि नारंगी में रस होता है और हम उसी का स्वाद लेते हैं । यदि उसी में रस न हुआ तो सामाजिक आस्वाद ही किसका करेगा ? जिह्वा तो केवल भिन्न भिन्न रसों को पहचानने की शक्ति रखती है और यह बता सकती है कि नारंगी खट्टी है कि मीठी । इस दृष्टि से वस्तु में रस और जिह्वा को आस्वाद कर्ता मानना ही समाधीन होगा । और इसी प्रकार काव्य में रस मानना चाहिये और सहृदय को आस्वादकर्त्ता मानें । इस प्रकार काव्यगत रस ही प्राथमिक अतएव प्रधान है ऐसा कहना चाहिये । धनंजय ने सामाजिक को ही रसिक अथवा रसाश्रय माना है और काव्य को रसवत् बताया है । काव्य को रसवत कहने का अभिप्राय है कि रसास्वाद का कारण है । व्यापक रूप में कवि काव्य अभिनेता मूलपात्र और पाठक में रस की अवस्थिति मानी जाती है । परन्तु रस की अवस्थिति एक बात है और आस्वाद उसी रूप में अथवा दूसरे रूप में करना दूसरी बात । काव्य में रस होकर भी सहृदय की मानसिक दशा के कारण वह काव्य रुचिकर अथवा उच्चकोटि या निम्नकोटि का लगता है ।

रसास्वाद कर्त्ता को रसिक सहृदय सामाजिक सुमनस और सभ्य कहा जाता है । प्रेक्षक की योग्यता बताते हुए भरत ने दस बातों का उल्लेख किया है—(१) बौद्धिक पृष्ठभूमि अर्थात कला और साहित्य का ज्ञान (२) सौंदर्य बोधक साधनों का ज्ञान (३) मानस तथा शारीर अवस्थाओं का परिचय (४) विभिन्न भाषाओं और बोलियों का ज्ञान (५) एकाग्रता (६) ग्रहणशक्ति (७) निरपेक्ष बुद्धि (८) चरित्र तथा संस्कार (९) तन्मयता (१०) अभिनीत वस्तु के प्रति रुचि । अभिनवगुप्त ने वासना संस्कार पर अधिक बल दिया है । भोजराजा ने प्रतिभा, संस्कार तथा पूर्वजन्म के पुण्य रसास्वाद के साधन स्वरूप हैं । रसास्वाद में प्रेक्षक की सहृदयता और उसे आस्वाद स्थिति तक लाने के लिये कवि की सहायता अपेक्षित है । सहृदयता की न्यूनता तथैव कवि की वर्णन पद्धति आदि की त्रुटियाँ भी रसास्वाद में बाधक होती हैं । रसास्वाद के लिए कवि तथा रसिक दोनों की योग्यता का सापेक्ष सम्बन्ध है ।

रसास्वाद में सात विघ्नों का उल्लेख किया जाता है । इन विघ्नों का सम्बन्ध दोनों पक्षों से है । (१) देशकाल के नियम बन्धन (२) निज सुख दुःखादि विवशीभाव (३) अप्रधानता (४) संशय योग (५) प्रतिपत्ति व योग्यता या संभावना विरह (६) प्रतीत्युपाय वैकल्प तथा स्फुटत्वाभाव (७)

दखना । इनका अपसारण प्रस्तान वस्तु का वणन पूवरग, विधिपूर्वक नटो तथा विदूषक के द्वारा ललित प्रस्तावना, अलौकिक भाषादि भेद या साम्य, नाटयधर्मी का प्रयोग, दान्ति विषयो का गान लोकयम प्रवत्ति, स्थायी की प्रधानता विभावादि का सयोग से होता है। इन विघ्नो के अपसारण का परिणाम रस का ब्रह्मानन्द सहोदर रूप ही है।

रसास्वाद के स्वरूप के सम्बन्ध म मधुमती भूमिका, आदि सिद्धान्तो ने प्रकाश डालने की कोशिश की है। अयात य सिद्धान्त उसमें विशेष सफल नही रहे हैं।

रसास्वाद और करुणरस

कुछ आचार्यो ने शृगार को प्रधान या रसराज कहा है तो कुछ ने करुण को। करुणरस को आन द स्वरूप म कुछ विद्वान स्वीकार नहीं करते। वे रसो को सुखात्मक और दु खात्मक इन दो श्रेणियो मे विभाजित करते हैं। इस दल के प्रमुख आचाय हैं रामच द्र गुणच द्र। उन्होंने कहा कि शृगार हास्य वीर अद्भुत और शांत सुखात्मक और करुण रौद्र बीभत्स और भयानक दुखात्मक हैं। इनका मत है करुणादि रसो क कारण हृदय उद्विग्न हो उठता है। उद्विग्नता सुख नही है। अतएव उद्विग्नता की विसद अनुभूति होती है उसे सुखात्मक स्वीकार नही किया जा सकता। करुण रस की ओर सामाजिक की प्रवत्ति कवि तथा नट न कौशल क कारण होती है। दूसरी बात यह है कि नाटय लोक जीवन का अनुकरण है। और यह ससार सुखदु खात्मक है अतएव उसका अनुकरण करने वाला नाटय केवल सुखात्मक नहीं हो सकता। और सुखदु खात्मक दृश्यो को केवल सुखात्मक कस कहा जा सकता है ? यदि करुण रस सुखात्मक जान पडे तो वह अभिनता का दोष है। क्योकि द्रोपदी का चीर हरण रतिविलाप आदि दश्य सुखात्मक लग तो यह अभिनय की त्रुटि के कारण ही होगा।

रस को आनन्दात्मक मात्र मानने वालो मे प्रथम स्थान भट्टनायक का है। उन्होंने सत्वोद्रक का सिद्धा त प्रस्तुत करते हुये साधारणीकरण व्यापार द्वारा स्व भाव तथा पर भाव शांत हो जाने स करुण को भी आनन्दात्मक माना है। किसी दु खी व्यक्ति से अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाए रखने पर हम दु ख होता है। वास्तविक जगत मे जो व्यापार दु खद प्रतीत होते हैं काव्य मे वर्णित होन पर वही अलौकिक विभावादि का रूप धारण कर लेते हैं अलौकिकता का अथ है समस्त सम्बन्धो से विमुक्त प्रतीत होना। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर यह स्वीकार किया कि लोक म भाव अनुभूत सुख दु ख होते हैं तथापि काव्य म प्रयुक्त होने पर वे ही पाठक को

आनन्दात्मक प्रतीत होने लगते है। अभिनवगुप्त ने भावो का आनन्दात्मकता कारण चित्त का समस्त सांसारिक बन्धनो से मुक्त हो जाना माना है। साहित्य रत्नाकर के अनुसार यदि विप्रलम्भ शृगार से आनन्द होता है तो करुणरस से भी आनन्द होगा। विश्वनाथ ने कहा है कि करुणरस से यदि दुख होता तो उसे देखने कोई नही जाता। दुख के कारणो से भी सुख की उत्पत्ति सम्भव है क्योकि विभवादि की सासारिक कारणो से विलक्षणता सिद्ध है। करुण दृश्य के देखने से अश्रुपातादि होने का कारण भी करुण की दुखात्मकता नही है, अपितु हृदय की द्रवणशीलता है जो आनन्द मे भी पाई जाती है। सुख मिलन के समय दन्त-नखादि के आघात से मन को आनन्द ही पहुँचता है भले ही शरीर को कष्ट होता हो। इसी प्रकार करुणरस की अनुभूति आनन्दात्मक होती है, भले ही शोक के कारण उसकी उत्पत्ति होती हो।

करुणरस से दुख अथवा आनन्द प्राप्त होता है इसी को लेकर मराठी मे द० के० केलकर आगरकर प्रो० जोग, डा० रा० आपटे, बेडेकर वा० म० जोशी, डा० वाटवे आदि ने पर्याप्त चर्चा की है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'आत्म सम्प्राप्ति अथवा प्रबल अनुभूति' में आनन्द की स्थिति मानते हैं। इन्ही कारणो से दुखात्मक दृश्य भी आनन्दात्मक अनुभूति जाग्रत करते हैं।

पाश्चात्य विचारको ने कथारसिस के आधार पर करुणरस का विचार किया है उसको कथारसिस के विवेचन के समय मे देखेंगे।

अलकार सम्प्रदाय

अलकार की परिभाषा स्वरूप—अलकार सम्प्रदाय के प्रमुख विवेचक हैं वामन। उन्होंने सौन्दर्यमलकार—कहकर अलकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची माना है। अलकार की परिभाषाएं हैं—

(१) वामन—काव्य ग्राह्यमलकारात सौन्दर्यमलकार।

काव्य अलकार द्वारा ग्राह्य होता है और सौन्दर्य ही अलकार है।

(२) दण्डी—काव्यशोभाकरान धर्मानलकरान् प्रचक्षते।

अलकार काव्य को सौन्दर्य प्रदान करने वाले धर्म हैं।

(३) भामह—वक्राभिधेय शब्दोक्ति रिष्टावाचामलकृति।

अर्थात शब्द और अर्थ का वचित्र्य ही अलकार है।

(४) रुद्रट—अभिधान प्रकार विशेषा एव चालकारा।

अभिधान का विशेष ही अलकार है।

(५) विश्वनाथ—शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन
रसादीनु पकुर्वन्तोऽलकारास्ते ऽगदादिवत् ॥

अर्थात अलकार काव्य शोभा को बढाने वाले रसभाव आदि के उत्कर्ष में सहायक शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है । अगद आदि आभूषणो के समान ही ये अस्थिर धर्म भी काव्य के आभूषण या अलकार कहलाते हैं ।

अलकार शब्द की व्युत्पत्ति अलम् धातु से हुई है जिसका अर्थ है आभूषण । अलकरोतीति अलकार अर्थात जो अलकृत करे उसे अलकार कहते हैं । अल क्रियते अनेकइति अलकार अर्थात् जिसके द्वारा अलकृत किया जाय, वह अलकार है । जिस प्रकार आभूषण शरीर को शोभा देते हैं, उसी प्रकार अलकार काव्य को शोभा देते हैं । सामान्य कथन से काव्य मे प्रभाव उत्पन्न नही होता, परन्तु वही बात अलकारो के माध्यम से कहें तो उसमें एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जायगा । कवि अपनी बात प्रभावशाली बनाने के लिए अलकारो को प्रयुक्त करता है । काव्य मे अलकार अनिवार्य तत्त्व है इसको स्पष्ट करते हुए जयदेव ने लिखा है कि जो व्यक्ति काव्य को अलकार रहित मानता है वह अग्नि को भी उष्मा रहित क्या नहीं मानता ?

काव्य मे अलकारो का स्थान

अग्नि पुराण मे अलकार का महत्त्व विशद करते हुये बताया है कि अलकार के बिना तो सरस्वती भी विधवा है । अलकार सम्प्रदाय मे दो भिन्न दल हैं । एक अलकारो को काव्य शोभा के रूप मे देखता है । दूसरा काव्य की काव्य शोभा वर्द्धिकारक अस्थायी धर्म के रूप मे । दूसरे को रूप को ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यो ने ग्रहण किया है । चमत्कारवादी कवि अर्थालकार को महत्त्व देते हैं अथवादी अर्थालकारो को । भामह आदि आचार्य अलकार को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं । ध्वनिवादी आचार्य अलकारो को आभूषणो को समान गौण रूप मे स्वीकार करते हैं । ध्वनि काव्यो मे अलकार का समावेश कवि की प्रतिभा की सहज प्रवृत्ति द्वारा हो सकता है । वे अलकारो की चिन्ता नही करते । रसरहित काव्य को अलकारों से भी शोभा नही आती । प्राण रहित शवों को आभूषण शोभा नही देते उसी प्रकार काव्य मे रस के अभाव में अलकार निरर्थक हैं । ध्वनिवादी आचार्यो ने रस भाव आदि के उत्कर्ष के लिये अलकारो को काव्य मे महत्त्व दिया है । मम्मट ने अलकारो को रस का अनिवार्य तत्त्व नही माना है बल्कि 'सुगुणावनलकृती पुन क्वापि' कहकर काव्य में सदा अलकार की स्थिति भी आवश्यक नही मानी । जयदेव विद्याधर अप्पय दीक्षित आदि ने अलकार की महत्ता स्थापित करने का प्रयास किया किन्तु रस सिद्धान्तो के सामने उनका मत मान्य नही हुआ । सामान्य रूप से गद्य पद्य दोनो मे अलकारो का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग होता है । किसी तथ्य अनुभूति, घटना या चरित्र की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये अलकारो का उपयोग होता

है। आनन्दवर्धनाचार्य ने केवल अलंकार युक्त काव्य को अधम अथवा चित्र काव्य माना है।

अलंकार और अलंकार्य—ये दोनों काव्य के प्रमुख पक्ष के सहायक तत्त्व हैं। अलंकार्य में रस, वस्तु आते हैं और भाव पक्ष से उसका सम्बन्ध रहता है। अलंकार का कला पक्ष से सम्बन्ध है। शब्द के दो रूप होते हैं—(१) प्रकृत (अनलंकृत) (२) अलंकृत। इनमें प्रथम अकाव्य और दूसरा काव्य है। आनन्दवर्धन ने अलंकारों को अंगी के रूप में स्वीकार नहीं किया। रस के उत्कर्ष करने में ही अलंकार कार की सार्थकता है। रस मूलरूप में अलंकार्य है इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए विश्वनाथ ने कहा है कि अलंकार शब्द-अर्थ के अस्थिर धर्म (गुण या तत्त्व) हैं जो उनकी शोभा की अभिवृद्धि करते हुए मूलतः रस का उपकार करते हैं। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में अलंकार और अलंकार्य का भेद आरम्भ से मान्य रहा है। कलापक्ष में शैली का एक महत्त्व होता है। अलंकार शैली की एक विशेषता है। सिद्धहस्त साहित्यकार सहजता से अलंकारों का प्रयोग करता है। भक्तियुगीन कवियों में यह विशेषता मिलती है। क्रोचे के अनुसार प्रतिभाशाली कवि की कृति में अलंकार अलंकार्य में समाविष्ट होकर अभिन्न हो जाते हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने इस तर्क का खण्डन किया है। कुन्तक ने भी दोनों में भेद माना है।

अलंकारों का ऐतिहासिक क्रम और विकास

प्राचीनकाल में अलंकार शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था। अलंकार के अन्तर्गत काव्य सम्बन्धी समस्त उपकरण समाविष्ट किये जाते थे। रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' ग्रंथ के बाद अलंकार संकुचित सीमा में बँध गये और विश्वनाथ ने तो उसे अंगद-बाजूबन्द श्रेणी में रखकर और भी सीमित कर दिया। भरत ने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। भामह ने अलंकारों का व्यापक अर्थ प्रदान किया। 'काव्यालंकार' में उन्होंने अलंकारों की विवेचना का एक व्यवस्थित ग्रंथ बना लिया। भामह ने कुल ३८ अलंकारों का उल्लेख किया है। भामह ने वक्रोक्ति को स्वीकार कर काव्य की भाषा का विवेचन किया है। इनकी दृष्टि में अतिशयोक्ति ही अलंकारों का बीज है। अतिशयोक्ति का अर्थ है भिन्नउक्ति—और यही वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति के बिना काव्य सौन्दर्य नहीं है। वक्रोक्ति से ही अर्थ विभक्ति होता है। नाटक में जो विभाव आदि हैं उनका काव्य में वक्रोक्ति द्वारा सम्पन्न होता है। दण्डी ने अतिशयोक्ति और श्लेष पर बल दिया। उन्होंने अलंकार को काव्य का अनिवार्य धर्म मानने वाले पक्ष को और आगे बढ़ाया। बिना अलंकार के काव्य नहीं। दण्डी ने गुण नाटकगत संधि, वृत्ति लक्षण

आदि की समाहार अलंकार में कर लिया। वामन ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय माना है। काव्य अलंकार सम्पन्न होकर ही काव्य हो सकता है। वामन ने दूसरा मत प्रस्तुत किया जिसके अनुसार काव्य के शोभाकारक गुण हैं और उस शोभा की अतिशयता करने वाले अलंकार हैं। यहीं से अलंकार के संबंध के दृष्टिकोणों में अंतर आया और अलंकार को काव्य का अस्थिरधर्म माना जाने लगा। वामन ने शोभाकर्तृत्व तथा शोभावर्द्धकत्व को लेकर गुणालंकार में जो विभेद किया, उसी से अलंकार को काव्य में गौण स्थान प्राप्त हुआ। वामन ने शब्द अर्थ के दो धर्मों की कल्पना की है—नित्यधर्म और अनित्यधर्म। गुण शब्दार्थों का नित्यधर्म है और अलंकार अनित्य। अर्थात् काव्य के लिए गुण तो आवश्यक है, पर अलंकार नहीं। रुद्रट के समय तक अलंकारों का महत्त्व अक्षुण्ण रहा। रुद्रट ने रस और अलंकार को अलग कर दिया। रस भाव आदि अलंकार्य और उपमादि अलंकार। आचार्य कुन्तल ने अलंकार पक्ष को पुष्ट करने का प्रयास किया और कहा अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है। रसवादी आचार्य भोज भी रस को ही अलंकार मानने के मोह में आ गये। वाग्भट ने अलंकार को काव्य का अभिन्न अंग माना। जयदेव ने भी इसी को दोहराया। मम्मट ने अलंकार के आग्रह पक्ष पर बल नहीं दिया। मम्मट के अनुसार अलंकार रहे या न रहे काव्य शरीर नीरस अथवा शोभा रहित नहीं होता। मम्मट के उपरान्त रुय्यक, जयदेव विद्याधर, विश्वनाथ केशव मिश्र तथा अप्पय दीक्षित (१७ वीं शती) आदि अलंकारों का विवेचन करने में उल्लेखनीय तथापि सूक्ष्म विवेचन से अलंकारों की संख्या भी १८ वीं शती तक १९१ तक पहुंची।

रसानुभूति में अलंकारों का योग

आचार्य शुक्ल जी ने चिन्तामणि के 'कविता क्या है' शीर्षक लेख में लिखा है कि अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में हो (उपमादि) चाहे वक्रता के रूप में (व्याज स्तुतादि) चाहे वर्ण विन्यास के रूप में (अनुप्रास) लाए जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही होते हैं। मुख के वर्णन में जो कमल चन्द्र आदि सामने रखे जाते हैं वह इस लिए जिस में इनकी वर्ण रुचिरता, कोमलता दीप्ति इत्यादि के योग से सौंदर्य की भावना और बढ़े। रसानुभूति के लिए भाव जागृत होना आवश्यक है। कवि के काव्य द्वारा रसिक के मन के सुप्तावस्था में स्थित भाव जाग्रत होते हैं। कवि को अपनी भावनाओं का बिम्ब रसिकों तक संप्रेषण करना आवश्यक होता है। यह बिम्ब ग्रहण कराने के लिए भाषा शैली आवश्यक है। पीछे हम देख चुके है कि अलंकार भाषा शैली का एक अंग है। इनके द्वारा भावों का स्पष्टीकरण अधिक सरलता से किया जा सकता है।

मम्मट ने कहा कि अलंकार शब्द वैचित्र्य अथवा चमत्कार के लिए नहीं बल्कि अर्थ-वैचित्र्य और रसोत्कर्ष के लिए किया जाना चाहिये। काव्य में रस संचार के लिए रमणीयता का समावेश आवश्यक है और स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त अलंकार योजना काव्य में रमणीयता लाती है और इससे रसानुभूति में योग मिलता है।

अलंकारों में मनोवैज्ञानिक आधार

डा० गोविंद त्रिगुणायत ने अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अलंकारों का निर्माण बहुत कुछ मनोविज्ञान आधार पर हुआ है।

अलंकार कवि की वाणी को सौन्दर्य प्रदान करने के साधन मात्र हैं। कवि स्वभाव से ही सहृदय और कलाकार होते हैं। उनकी सहृदयता उनकी भावना को उद्दीप्त कर देता है और उनकी कला प्रियता के कारण उद्दीप्त भावनाएं स्वतः ही अलंकृत हो जाती हैं। भावना की उद्दीप्ति मन के ओज पर निर्भर है अतः मन के ओज को ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अलंकारों के अस्तित्व का कारण माना गया है। अलंकारों के महत्व का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण है। अलंकार किसी भी विषय को उक्ति वैचित्र्य रूप में कहने का साधन है। कवि की यह स्वाभाविक धारणा होती है कि वह अपनी रचना को अधिक से अधिक रोचक बना सके। किसी बात को सीधे ढंग से यथातथ्य रूप में कह देने से उसका प्रभाव व्यापक नहीं होता। अतः कवि जो कुछ अनुभव करते हैं उसे कल्पना मिश्रित अतिरंजित वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं। कवि की इसी प्रवृत्ति के कारण दण्डी आदि संस्कृताचार्यों ने अतिशयोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूल कहा है काव्य में अलंकार रस के उत्कर्ष और सौंदर्य परिवर्तन करने वाले आवश्यक उपादान हैं। कवि की सौंदर्य प्रियता के कारण ही विभिन्न अलंकारों का अस्तित्व दिखाई पड़ता है। अलंकारों का मनोवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि अपनी रुचि वैशिष्ट्य के अनुसार अलंकारों का प्रयोग करते हैं। अधिक आडम्बर प्रिय और चमत्कार प्रिय लेखकों की सृष्टि में शब्दालंकारों की बहुलता रहती है। विद्वानों ने मनोविज्ञान के आधार पर ही अलंकारों का वर्गीकरण भी किया है।

इस लम्बे अवतरण से अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट हो जायेंगे इन पर टीका टिप्पणी कोई आवश्यकता समझी नहीं जाएगी।

रीति सम्प्रदाय

अलंकार की अपेक्षा रीति का अधिक महत्त्व है। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन (ई० स० ८००) हैं। दण्डी ने (ई० स० ६००) रीति पर विचार किया था

परन्तु रीति शब्द उसने प्रयुक्त नहीं किया था, उसके लिए उसने मार्ग अथवा वर्त्म शब्द का प्रयोग किया है। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर अलंकारवादियों का स्पष्टतः विरोध किया।

रीति शब्द की उत्पत्ति 'रीङ्' धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है। रीति का सामान्य अर्थ है गति, मार्ग, पथ, चलन, पद्धति, प्रणाली है। वामन के पूर्व रीति के स्थान पर अधिकतर मार्ग शब्द का प्रयोग होता था। आजकल रीति शब्द हिन्दी में शैली के अर्थ में प्रयुक्त होता है। रीति सम्बन्धी धारणा और महत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

वामन ने रीति की परिभाषा– 'विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा" की है। पदों की विशिष्ट रचना या संघटन का नाम रीति है। यह रचना माधुर्य आदि गुणों से युक्त होती है। रीति की उपमा मानव शरीर में अंगों के संगठन के साथ दी जाती है। मनुष्य के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन है, यदि वे अपने स्थान से च्युत हो जायें तो शरीर कुरूप मालूम पड़ेगा। पदों के संघटन का यही अर्थ है। पदों को अपने-अपने स्थानों पर रखने से कविता में चमत्कार आता है और एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न होता है। विशिष्टता से तात्पर्य–गुणों की सत्ता अर्थात् पदों की रचना में गुणों का निवास।

रीति के प्रकार– वामन ने रीतियाँ के तीन प्रकार माने हैं– वैदर्भी, गौडीय, पांचाली।

वैदर्भी– समस्त गुणों से विभूषित, दोषों से सर्वथा रहित मधुर और सर्वश्रेष्ठ है।

गौडी ■ ओज कान्ति गुण और समास की बहुलता है। वैदर्भी का प्रसाद गुण से सम्बन्ध होता है और उसे कोमलावृत्ति भी कहते हैं तो गौडी को परुषा वृत्ति भी कहते हैं।

पांचाली– अस्पष्ट शिथिल पदावली, माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त होती है और इसकी शैली पौराणिक होती है। लाटी– कोमल पदों वाली, उचित समास से युक्त विशेषण प्रधान वर्णन वाली शैली लाटी है। हिन्दी में बिहारी–वैदर्भी के और भूषण गौडी के प्रख्यात कवि हैं।

काव्य गुण– भरतमुनि ने गुणों की संख्या दस मानी है –श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, उदारता, अर्थ व्यक्ति कान्ति। दण्डी ने गुणों की विस्तृत विवेचना की है किन्तु गुणों का स्पष्ट लक्षण सर्वप्रथम वामन ने किया। उन्होंने लिखा है कि काव्य के शोभाकारक धर्मगुण कहलाते हैं। वामन ने २० काव्य गुण माने हैं। दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण। भोजराजा ने गुणों की संख्या ७२ पहुँचा दी।

गुण का परिचय–(१) प्रसाद – जिसके चित्त म उदय होते ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

(२) श्लेष – (सुश्लिष्टता) मसृणत्व अथवा कोमलता।

(३) समता– शैली की एकरूपता।

(४) समाधि– शैली म उतार चढाव। (५) माधुर्य–शब्दों की पृथकता (६) सौकुमार्य–कठोरता का अभाव। (७) उदारता– रचना शैली का विकटता (८) अर्थ व्यक्ति– जिससे अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। (९) ओज– रचना की गाढता। (१०) कान्ति– रचना शैली की नवीनता अथवा उज्ज्वलता। ये हुए हैं शब्द गुण। अर्थ गुण इस प्रकार हैं –

प्रसाद– अर्थ की विमलता को श्लेष– मिश्रित घटनाओं, अर्थ की सुगमता को समता, अर्थ के दर्शन को समाधि उक्ति वचित्र्य को माधुर्य अर्थ की सुकुमारता को सौकुमार्य अग्राम्यत्व को उदारता, वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता को अर्थव्यक्ति–रस की दीप्ति को कान्ति और अर्थ की प्रौढता को ओज कहा गया है।

वामन ने रस को गुण का आश्रित कहा है। अभिनव गुप्त ने गुण और रस म कार्य–कारण सम्बन्ध माना है। मम्मट ने गुण को रस का उत्कर्षक हेतु माना है। भामह आदि आचार्य सभी गुणों का समावेश माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों म करते हैं। वामन का 'रीति काव्य की आत्मा' कथन गुण पर आधारित है।

दोष – दोष शून्य रचना म गुणों का सौन्दर्य चमक उठता है। भरतमुनि ने दस दोष माने थे। वामन ने दोषों को वर्गीकृत करके इनकी संख्या २० मानी है।

(क) पद-दोष (१) असाधु–अशुद्ध प्रयोग (२) कष्ट–कर्णकटु शब्द (३) *ग्राम्य (४) अप्रतीत–प्रचलित शब्द का प्रयोग (५) अनर्थक–निरर्थक।*

(ख) पदार्थ दोष– (१) अन्यार्थ–शब्द का विभिन्न अर्थ म प्रयोग। (२) गूढार्थ–अप्रसिद्धार्थ (३) अश्लील (४) क्लिष्ट– जहां अर्थ अत्यन्त दुरूह हो (५) नेयार्थ– जिसका अर्थ कल्पना से करना पडता है।

(ग) वाक्य दोष– (१) भिन्न वृत्ति (२) यतिभ्रष्ट (३) विसंधि।

(घ) वाक्यार्थ दोष–(१) व्यर्थ (२) एकार्थ (३) संदिग्ध (४) अप्रयुक्त (५) अपक्रम (६) अलोक–जिसका अर्थ देशकाल प्रवृत्ति विरुद्ध हो। (७) विद्या विरुद्ध–जिसका अर्थ कला और शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो।

रीति और कवि स्वभाव– कुन्तक ने कवि स्वभाव का आधार ग्रहण करके

सुकुमार विचित्र और मध्यम ये तीन मार्ग प्रस्तुत किए हैं। यह वर्गीकरण उचित नहीं है।

वृत्तियाँ — नाटक के पात्र अथवा काव्य के नायक के शरीर वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टाएँ वृत्तियाँ हैं। वृत्तियाँ चार हैं–भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। इनका विवेचन हम नाटक के प्रसग में कर चुके हैं।

रीतियों का ऐतिहासिक विकासक्रम

रीति को स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय वामन को है। उनके पूर्व भी रीति सबधी अन्य शब्दों द्वारा विचार हुआ था। भरत ने नाट्यशास्त्र में रीति से मिलते जुलते शब्द वृत्ति औरप्रवृत्ति का प्रयोग किया था। भरत की प्रवृत्ति स्थानीय विशेषताओं को सूचित करती है। उन्होंने चारो भेदों का नामाकरण भौगोलिक आधार पर किया है। भरत ने काव्य गुण दोष एव लक्षणा की भी विशद व्याख्या की है। रीति परम्परा भरत से प्रवर्तित मानना उचित होगा। भामह ने वैदर्भी और गौडी इन दो मार्गों या रीतियों का सकेत दिया है। उन्होंने रीति पर तात्त्विक दृष्टि से सविस्तार विचार किया है। दडी ने कवि की शैली में ईख, गुड दूध की मधुरता के आधार पर सूक्ष्म सकेत दिया है। उन्होंने काव्य गुणों के आधार पर वैदर्भी और गौडी का विस्तृत विवेचन किया है और वैदर्भी को उत्कृष्ट और गौडी को निकृष्ट बताया तथा दस गुणों को वैदर्भी का प्राण कहा है। वामन ने रीति का महत्व प्रदान करके उसे काव्य की आत्मा घोषित की। रीति में गुण को समान महत्त्व दिया उन्होंने लिखा कि विशेष प्रकार की पद रचना रीति है और रीति में यह विशेषता विशेष गुणों से आती है। वामन ने अर्थगुण और शब्दगुण स्वीकार करके अर्थगुणों का सम्बन्ध रसात्मक से माना। उन्होंने वैदर्भी, गौडी और पाचाली तीन शैलियाँ मानी हैं। वामन के परवर्ती आचार्यों ने इस परपरा को आगे बढाया है रुद्रट ने लाटी चौथी शैली मानी। उन्होंने समास को रीति का निर्णायक आधार मानकर किस रस में कौन सी रीति प्रयुक्त होनी चाहिए इसका स्पष्टीकरण किया है। राजशेखर (९वी शती) ने प्रवृत्ति, वृत्ति एव रीति को स्पष्ट करते हुए पूर्व–विवेचन को अधिक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है की प्रवृत्ति का सम्बन्ध वेशभूषादि से वृत्ति का क्रिया–कलाप व्यवहार आदि से तथा रीति का भाषा एव बोल चाल आदि से है। राजशेखर ने लाटी की मान्यता नहीं दी। कुन्तल (१० शती) कवि स्वभाव के आधार पर सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति) विचित्र मार्ग (गौडी) और मध्यम

माग (पाचाली) प्रस्तुत किए। उनका यह प्रयास वामन, राजशेखर के उपरांत मौलिक कहा जायगा। अब तक रीति का सम्बन्ध प्रान्त-विशेष से माना जाता रहा, कुन्तक ने रीति का सम्बन्ध कवि स्वभाव से माना। भोजराज (११ शती) ने और दो भेद—आवन्तिका और मागधी की कल्पना कर रीतियों की संख्या छः तक पहुँचा दी। आन न्दवर्धन ने रीति का प्रयोग-वक्ता, वक्तव्य, विषय एवं रस के औचित्य के अनुसार करने का उल्लेख किया है। इस प्रकार रीति परम्परा ११-१२ शती तक अक्षुण्ण रूप में चलती रही। बाद में रस सम्प्रदाय के आगे इसका महत्त्व कम हुआ। हिन्दी के बहुत कम आचार्यों ने रीति का उल्लेख किया है। रीतिकालीन हिंदी आचार्यों ने रीति की प्रायः उपेक्षा ही की है।

रीति और शैली (Style)

कुछ लोग रीति और शैली को एक ही मानते हैं। वस्तुतः दोनों में पर्याप्त भेद है। डा० नगेन्द्र ने शैली को रीति माना है परन्तु डा० सुशीलकुमार डे रीति को शैली नहीं मानते। शैली Style प्रत्येक कवि या लेखक की भिन्न भिन्न होती है। प्राचीन काल में प्लेटो ने शैली के सहज सरल, विचित्र और मिश्र ये तीन भेद किए थे। अरस्तू ने तीन गुण बताये थे स्पष्टता और औचित्य। अरस्तू ने समासों का अधिक प्रयोग, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग शैली अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग, दुरूह एवं अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग—ये शैली दोष माने थे। डायोनीसियस ने कठिनाडम्बर, समरस और मिश्र ये तीन गुण माने थे। शैली का यह प्राचीन विवेचन भारतीय आचार्यों द्वारा रीति विवेचन से साम्य रखता है। क्विन्टीलियन ने भारतीय आचार्यों की भांति शैलियों का नामकरण भी भौगोलिक आधार पर किया था—जैसे एटिक, एशियाटिक और रहोडियन।

परन्तु आधुनिक युग में आते-आते पाश्चात्य विद्वानों का शैली के सम्बन्ध में दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। रीति का सम्बन्ध विशिष्ट पदरचना संगठन गुण दोष वृत्ति और प्रवृत्ति इनसे रहा है। रीति का सम्बन्ध काव्य के बाह्य पक्ष से अर्थात् कलापक्ष से अधिक है शैली कवि की प्रकृति व्यक्तित्व से सम्बंधित है। शैली के आधार पर किसी कवि की रचना को दूसरे कवि की रचना से अलग करके देख सकते हैं। प्रेमचंद, बेचन शर्मा उग्र आदि की विभिन्न शैलियों के आधार पर उनकी रचनाएँ अलग करके देखी जा सकती है। शैली कवि के संस्कारों से बनती है। प्रत्येक कवि की अपनी-अपनी शैली होती है। सरस, मधुर, ललित, क्लिष्ट या विदग्ध उदात्त, व्यंग्य या तीक्ष्ण शैलियाँ प्रचलित है। आधुनिक काल में रीति सिद्धान्त बहुत वैज्ञानिक और पूर्ण नहीं लगता किन्तु शैली की विशेषताएं अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक ढंग से प्रकट की जा सकती हैं।

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने शैली और रीति मे भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रीति के कुछ निश्चित भेद किए जा सकते हैं जबकि शैली का कोई निश्चित रूप या भेद करना कठिन है। रीति विषय सापेक्ष है जबकि शैली व्यक्ति सापेक्ष। रीति मे पाठक या सामाजिक की दृष्टि को प्रमुखता प्राप्त है जबकि शैली म कवि या रचयिता की दृष्टि को। रीति के लिए अध्ययन, अभ्यास एव प्रयत्न अपेक्षित है जबकि शैली सहज स्वाभाविक रूपो को सूचित करती है। रीति परम्परा की प्रतीक है जबकि शैली स्वच्छदता की।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि रीति और शैली म पर्याप्त भेद है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति का काव्य जीवित क रूप मे विवेचना करने वाले कुन्तक ही इस सम्प्रदाय के प्रवतक हैं। वक्रोक्ति का अथ है वह उक्ति जिसमे वक्रता हो। वक्रता का शाब्दिक अथ है बाँकापन टेढापन विचित्र, असामान्य आदि। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति का अथ है–प्रसिद्ध कथन से भिन्न अर्थात विचित्र अथवा असामान्य।

वक्रोक्ति का ऐतिहासिक विकासक्रम

(इतिहास पूर्ववृत्त–परम्परा)

वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अलकारशास्त्र के पूव काल मे भी मिलता है। प्राचीन साहित्य ग्रथो म वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग क्रीडाकलाप परिहास इस अथ म हुआ है। बाणभट्ट कादम्बरी में *'वक्रोक्ति निपुणेन विलासी जनेन'* लिखकर वक्रोक्ति अथ परिहास आदि व्यापक अथ मे लेता है। भामह (६वी शती) वक्रोक्ति को व्यापक रूप मे प्रस्तुत करते हुए इसे सब अलकारो की जननी माना है। भामह वक्रोक्ति का अतिशयोक्ति का पर्यायवाची मानते हैं। काव्य का मूल उपादान वक्रोक्ति है जो स्वभावोक्ति स विपरीत है। कवि को इसके लिए प्रयास करना चाहिए। उन्होने लोक की साधारण कथन प्रणाली से भिन्न उक्ति को वक्रोक्ति माना है। दण्डी ने स्वभावोक्ति से पृथक वक्रोक्ति को मान कर उस सब अलकारो का मूलाधार बताया। भामह की अपेक्षा यहाँ वक्रोक्ति का अथ सीमित हो गया। वामन ने उपमा आदि सादृश्यमूलक अलकार को वक्रोक्ति कह कर उसका क्षेत्र और भी सकुचित कर दिया। रुद्रट, मम्मट, जयदेव, वाग्भट, विद्याधर, हेमचद्र आदि ने वक्रोक्ति को केवल शब्दालकार मानकर उसको बहुत सकीण बना दिया। आनन्दवधन और अभिनव गुप्त न रस क पोषक के रूप म वक्रोक्ति को स्वीकारा। आनन्दवधन न वक्रोक्ति को अधिक सम्मान प्रदान किया जिसक बल पर कुन्तक न ध्वनि

विरोध में 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' की स्थापना की। राजानक कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' नामक ग्रंथ में वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' कह कर उसे काव्य की आत्मा माना और उसकी विशद व्याख्या की।

वक्रोक्ति काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण – कुन्तक ने कवि कर्म को ही काव्य माना है। कुन्तक ने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व दिया है और प्रत्येक रचना को आह्लाद-कारिणी होना आवश्यक माना है। डॉ० नगेन्द्र और ग रय देशपाण्डे के अनुसार कुन्तक रस को परम तत्व और रसास्वाद कविवचन का जीवित मानते हैं। कुन्तक की दृष्टि से वक्रोक्ति में होने मात्र से कोई रचना काव्य की अभिधा पा जाती है। कुन्तक ने स्वभावोक्ति का विरोध किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। इसके लिए-कवि कौशल या कवि प्रतिभा व्यापार चमत्कार और उक्ति ये तीन बातें आवश्यक हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है- शब्द और अर्थ दोनों अलंकार्य हैं और उन्हें अलंकृत करने वाला विदग्धतापूर्ण कथन रूपी वक्रोक्ति ही उन दोनों की अलंकार होती है। इससे स्पष्ट होता है कि कुन्तक का दृष्टिकोण विशुद्ध कलावादी अथवा सौन्दर्यवादी था।

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति के ६ भेद माने हैं। १ वर्ण विन्यास वक्रता २ पद पूर्वार्द्ध वक्रता ३ पद परार्ध वक्रता, ४ वाक्य वक्रता, ५ प्रकरण वक्रता, ६ प्रबन्ध वक्रता।

१ वर्ण विन्यास वक्रता –इसके अन्तर्गत शब्दालंकार अनुप्रास, यमक विभिन्न वृत्तियाँ एवं शब्द गुणों का समावेश है। उन्होंने व्यंजन वर्णों की सौंदर्य सम्बन्धी बातों का उल्लेख किया है। कुन्तक ने वर्ण योजना प्रस्तुत विषय के अनुकूल असुन्दर वर्णों का प्रयोग गर्हणीय, नवीन सौन्दर्य का होना प्रसाद गुण, श्रुतिसुखदता वर्ण विन्यास वक्रता में वचन के रूप में बताए हैं। इससे स्पष्ट है कुन्तक वक्रता को कृत्रिम रूप में नहीं बल्कि स्वाभाविक सौन्दर्यवर्धक रूप में देखता है।

२ पदपूर्वार्द्ध वक्रता –मूल शब्द की वक्रता को पद-पूर्वार्ध-वक्रता कहते हैं। इसके नौ भेद हैं। उन्हें क्रमश देखेंगे –

(१) रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रता –इसमें रूढ़ि या परम्परागत मान्यता का वैचित्र्य होता है।

उदा० सीता हरण तात जनि कहहु पिता सन जाई।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दसानन आई।

इसमे राम के रूढ अर्थ को अत्यन्त तेजस्वी और पराक्रमी राम के रूप म प्रस्तुत किया है।

(२) पर्याय वक्रता —इसका अर्थ है पर्यायवाची अनेक शब्दो में किसी एक सर्वोत्कृष्ट अर्थवान् शब्द का प्रयोग। उदा०

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आचल मे है दूध और आँखों मे पानी।

यहाँ यदि अबला के स्थान पर नारी स्त्री, कामिनी पर्यायवाची शब्द रखे जायें तो उसका सौन्दर्य जाता रहेगा क्योंकि अबला म जो विवशता और दुर्बलता प्रकट होती है वह अन्य शब्दों से नही होती है।

(३) उपचार वक्रता — उपचार का अर्थ है—अत्यन्त विभिन्न पदार्थों में अत्यन्त सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता। जहाँ भेद होते हुए भी अभेद का अनुभव हो ऐसी वक्रता को उपचार कहते हैं। आधुनिक शब्दावली म यह बिम्ब विधान है। अमूर्त पर मूर्त का आरोप, अचेतन पर चेतन का आरोप रूपकादि अलकार इसके अतगत आते है।

सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर।

सस्मित सीपी म उपचार वक्रता है।

(४) विशेषण वक्रता —जहाँ विशेषणो की वक्रता के कारण काव्य सौंदर्य हो। उदा० भेंट हैं तुमको सखे य अश्रुगीले गीत। अश्रुगीले म विशेषण वक्रता है।

(५) सवृत्ति वक्रता —सवृत्ति का अर्थ है—छिपाना। जहाँ सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का गोपन करके वक्रता उत्पन्न की जाती है जैसे—

धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ।

(६) वृत्ति-वक्रता —व्याकरण के समास तद्धित आदि से सम्बन्धित वक्रता को वृत्ति वक्रता कहते हैं।

जैसे— को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर।

(७) भाव वैचित्र्य वक्रता —यह क्रिया के कर्त्तृ प्रत्ययान्त रूप के चमत्कारी प्रयोग से सबध रखता है। जैसे— चलित स्नान हित शोभा-वलयित।

इसमे क्रियापद साध्य रूप न होकर सिद्ध रूप मे प्रयुक्त हुए हैं।

(८) लिंग वैचित्र्य वक्रता —यह वक्रता लिंग परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारी। मुझे भी अपने मीठे गान। (पत)

भौंरे का पुल्लिंग में प्रयोग होना है यहाँ उसे स्त्रीलिंग म प्रयुक्त किया है।

(९) क्रिया वैचित्र्य वक्रता —क्रिया सम्बन्धी वक्रता इसम होती है।

मतराम लालच लाग कौ, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै भौंहन हँसै दन कहै नटि जाय ।

३ पदपराध वक्रता —पद के पराध में प्रत्यय रहता है इसीलिए इसे प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं । इसके भेद हैं —काल वैचित्र्य वक्रता कारक वक्रता, पुरुष वक्रता उपग्रह वक्रता प्रत्यय वक्रता, पद वक्रता आदि । इसमें काल, कारक तथा पुरुष प्रत्यय आदि के प्रयोग पर विचार किया गया है ।

पिय सो कहेउ संदेसड़ा हु भौंरा हू काग ।

संदेसडा म डा प्रत्यय की विशेषता के कारण सौन्दय आया है । यह प्रत्यय वक्रता का उदाहरण है ।

४ वाक्य वक्रता —यहाँ वक्रता आधार पूरा वाक्य होता है । वस्तु का उत्कषयुक्त, स्वभाव से सुन्दर रूप म केवल सुंदर शब्द द्वारा वणन अथ या वस्तु की वक्रता कहलाती है । इसमें एक प्रकार का वणन जो स्वाभाविक होता है और दूसरा कवि प्रतिभा द्वारा अलौकिक होता है । अचतन या जड का वणन तथा पशु पक्षी आदि चेतन का वणन रसो के उद्दीपक रूप म होना चाहिए । इसके अनेक भेद हैं । मुख्य दो भेद इस प्रकार हैं– (१) स्वभावोक्ति (२) अर्थालंकार । वस्तुत वाक्य-वक्रता के अंतगत प्रमुख अर्थालंकारो का समावेश होता है । उदा०–

उषा सुनहले तीर बरसाती
जय लक्ष्मी सी उदित हुई ।

५ प्रकरण वक्रता —कुन्तक ने इसकी परिभाषा स्पष्ट नही की । आशय है कि सजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तु वणन में जो अपूव उत्कष उत्पन्न करता है वह प्रकरण वक्रता है । समग्र कथा विधान का नाम प्रबन्ध है और उसके अंग अथवा प्रसग का नाम प्रकरण है । प्रकरण पर आश्रित वक्रता प्रकरण-वक्रता है । जहाँ प्रसग विशेष के उत्कष से सम्पूण प्रबन्ध उज्ज्वल हो उठता है वहाँ प्रकरण वक्रता होती है । इसके अनेक भेद हैं । नायक की चारित्रिक विशेषताओ को जब कवि उत्साह के साथ वर्णित करता है तब उस भावपूण स्थिति म प्रकरण-वक्रता होती है । साकेत का कुम्भकर्ण वध और रावण का मूर्छित होना प्रसग म राम की उदारता और रावण की सहृदयता वर्णित है । कवि कभी नतत्व कल्पना द्वारा प्रकरण की नयी उदभावना करता है—जसे–रामचरित मानस का पुष्पवाटिका प्रसग । जलक्रीडा उत्सव आदि का रोचक प्रसगो का विशेष विस्तार से वणन करना प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर गौण प्रसग की उदभावना, किसी विशिष्ट प्रसग की अतिरंजना, पुरान वृत्त को नवीन बना देना, चमत्कार पूण खास स्थिति की कल्पना

करना रसपूर्ण प्रसंग, आदि प्रकरण वक्रता के भिन्न प्रकरण हैं।

६ प्रबंध वक्रता —जब सम्पूर्ण प्रबंध में वक्रता होती है तब उसे प्रबंध वक्रता कहते हैं। प्रबंध वक्रता की परिधि में समग्र प्रबंध काव्य, नाटक, महाकाव्य आदि का वस्तु-कौशल समाविष्ट है। इसका आधार-फलक सबसे व्यापक है। इसके छः भेद हैं।

१ रस परिवर्तन— कभी कभी कवि की मौलिक प्रतिभा इतिहास में प्राप्त वृत्तान्त और मूल रस में परिवर्तन करके अधिक रमणीय कथानक रस का निरूपण करता है। इस प्रकार नये ही प्रबंध की उदभावना होती है — जैसे उत्तररामचरित और वेणीसंहार नाटक।

२ कवि नायक के चरित्र का उत्कर्ष करने वाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार कर सरस बनाता है और कम रोचक अंश की उपेक्षा करता है। उदा०— किरातार्जुनीय वैदेही वनवास चन्द्रगुप्त (प्रसाद)।

३ कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि होती है और इससे उज्ज्वलता आती है। उदा०— शिशुपाल वध।

४ नायक के द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति होना। उदा०-नागानन्द। नायक जीमूतवाहन।

५ प्रधान कथा का द्योतक नाम से कवि काव्य में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है। उदा०— अभिज्ञानशाकुंतल-मुद्राराक्षस।

६ एक ही कथानक पर अनेक काव्य लिखे जाने पर नये दृष्टिकोण से कथा का प्रस्तुत करना प्रबंध वक्रता का ही भेद है। उदाहरण के लिए रामायण की मूल कथा के आधार पर संस्कृत में रामाभ्युदय, उदात्तराघव वीरचरित बालरामायण कृत्यारावण आदि अनेक नाटकों की रचना हुई है परन्तु उनमें काव्य सौन्दर्य एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण है।

वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद और कुंतक के वक्रोक्तिवाद को एक ही समझने की भूल आ० रामचन्द्र शुक्ल ने की। उन्होंने अभिव्यंजनावाद को विलायती उत्थान कहते हुए लिखा है कि—"और कलाओं को छोड़ कर यदि हम काव्य ही को लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को वाग्वैचित्र्यवाद ही कह सकते हैं। और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं। शुक्लजी के अनुसार दोनों में इतना ही अन्तर है कि वक्रोक्तिवादी व्यंजना को विशेष रूप से उपयोग करते थे और अभिव्यंजनावादी लक्षणों को प्रधानता देते थे। (चिंतामणि पृ० २३७)

डॉ० नगेन्द्र ने भी दोनों में साम्य बिन्दुओं को ढूँढ़ते हुए लिखा है कि दोनों अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राणतत्त्व मानते हैं और सरल अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्य-अभिव्यंजना में अन्तर नहीं मानते। दोनों ने काव्य में कल्पना तत्त्व को प्रमुखता दी है और मूलतः उक्ति को अखण्ड अविभाज्य और अद्वितीय मानकर अलंकार और अलंकार्य में अभेद बताया है।

यह साम्य भी सापेक्ष और ऊपरी है। उदाहरणार्थ क्रोचे उक्ति को अखण्ड मानते हैं तो कुन्तक ने वाक्य विन्यास-वक्रता आदि भेदों का वर्णन करके उसे खण्ड-खण्ड रूप में देखा है। डॉ० नगेन्द्र ने भी आगे चलकर दोनों में विषमता अधिक है यह मान लिया है। रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी विदेशी अभिव्यंजना और वक्रोक्तिवाद को लेकर हिन्दी जगत में दोनों की तुलना करने की परम्परा चली। वस्तुतः दोनों में गहरा भेद है। (१) क्रोचे के *अभिव्यंजनावाद* में कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। क्रोचे कला का सम्बन्ध स्वयंप्रकाश्य ज्ञान (इन्ट्यूशन) मानते हैं जब कि कुन्तक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से सम्बन्धित मानते हैं। (२) *अभिव्यंजना एक दार्शनिक सिद्धान्त है जबकि वक्रोक्तिवाद शुद्ध साहित्यिक* सिद्धान्त है। (३) अभिव्यंजना एक अखण्ड अद्वैत तत्त्व है इसमें उक्ति और वस्तु अलंकार और अलंकार्य में अभिन्नता होती है। वक्रोक्तिवाद में उक्ति के भेद बनाए गए हैं। (४) *अभिव्यंजना का क्षेत्र व्यापक होकर कलाओं से उसका* सम्बन्ध है जबकि वक्रोक्ति का क्षेत्र ललित अर्थात् काव्य कला तक सीमित है उसका अन्य ललित कलाओं से भी सम्बन्ध नहीं रहता। (५) अभिव्यंजना के मूर्त और अमूर्त दो स्वरूप हैं जबकि वक्रोक्ति का मूर्तरूप होता है। (६) क्रोचे अभिव्यंजना में मानसिक अभिव्यंजना को प्रधानता देते हैं कुन्तक बाह्य अभिव्यक्ति का ही विवेचन करते हैं। (७) क्रोचे उक्ति की सहज स्वाभाविकता में काव्य सौन्दर्य मानते हैं जबकि कुन्तक वक्रता में। (८) क्रोचे के अभिव्यंजना का उद्देश्य आत्म तुष्टि है जबकि वक्रोक्ति का लक्ष्य चित्त को चमत्कृत करना है। और रसिक हृदय को प्रसन्नता प्रदान करना है। वक्रोक्ति का सम्बन्ध विशेष रूप से कलापक्ष से है। इस प्रकार दोनों में पर्याप्त भेद है अतएव दोनों को एक नहीं कहा जाता।

ध्वनिसंप्रदाय

ऐतिहासिक विकासक्रम एवं सिद्धांत

ध्वनिसंप्रदाय का भारतीय प्राचीन काव्य सिद्धान्तों में अपना एक विशेष महत्त्व है। रस को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से, और काव्यात्मा के प्रसंग में

शब्द की नई शक्ति व्यंजना की खोज की दृष्टि से ध्वनि सिद्धांत का महत्त्व है इस सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन हैं। मम्मट पंडित जगन्नाथ आदि ध्वनिवादी ही थे। इन आचार्यों ने सूक्ष्म ध्वनिवाद का वर्णन जटिल बना दिया और हजारों भेदोपभेद माने। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' मे काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैय समाम्नातपूर्व' कहकर ध्वनिसम्प्रदाय की पूर्व परम्परा भी स्वीकार की है। डॉ० बच्चनसिंह ध्वन्यालोक को मौलिक ग्रन्थ मानते हैं। डा० पाडेय ने ध्वनि सिद्धांत का उदय और विकास आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक निश्चित किया है। आनन्दवर्धन के पूर्व ध्वनि पर कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। ध्वनिसम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है और ध्वनि का सम्बन्ध व्यंजना से है। ध्वनिसम्बन्धी विचारों के बीज व्याकरण और दर्शन ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं। ध्वनि सिद्धान्त को व्याकरण के स्फोटवाद से प्रेरणा मिली है।

स्फोट और ध्वनि–प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार किसी शब्द का सम्पूर्ण उच्चारण एक साथ असम्भव है। घट शब्द लीजिए। घ वर्ण के उच्चारण के बाद ट वर्ण का उच्चारण किया जाता है। घ के उच्चारण के समय ट का उच्चारण नहीं होता। ट का जब उच्चारण होता है उस समय घ उच्चरित होकर शून्य मे विलीन हो चुका रहता है। इसी प्रकार शब्द के विभिन्न वर्ण क्रमश उच्चरित होते हुए नष्ट होते रहते हैं किन्तु प्रत्येक वर्ण नष्ट होने से पूर्व बाद में उच्चरित होने वाले वर्ण को अपना संस्कार दे जाता है–शब्द के अंतिम वर्ण तक यही क्रम चलता है। अत वैयाकरण एक नित्य शब्द की कल्पना करते हैं जिसे स्फोट कहते हैं। अलग-अलग वर्णों से अर्थ बोध न होकर स्फोट से होता है। इसे ही ध्वनि कहा जाता है। स्फोट अर्थ की अभिव्यक्ति अन्तिमवर्ण से करता है।

ध्वनि—शब्द शक्तियाँ तीन हैं–अभिधा लक्षणा, व्यंजना। वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त सर्वथा नवीन और महत्त्वपूर्ण अर्थ की प्रतीति हो वहाँ व्यंजना व्यापार होता है। इस अर्थ प्रतीति को व्यंग्यार्थ या ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। प्रतीयमान का अर्थ है—प्रतीतिगम्य अर्थ। रमणियों के प्रसिद्ध शरीरांगों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में (वाच्यार्थ से पृथक रूप मे) प्रतिभासित होता है। व्यंग्यार्थ की प्राप्ति ध्वनि' द्वारा होती है। काव्य का सूक्ष्म व्यंग्यार्थ वस्तुत घण्टे पर चोट होने से उत्पन्न स्थूल टंकार के अनन्तर सुनाई पड़ने वाली मधुर झंकार के समान है।

ध्वनि की परिभाषा—जहाँ शब्द और अर्थ गौण होकर दूसरे अर्थ (व्यंग्य अर्थ) को प्रकाशित करते हैं वहाँ ध्वनि होती है। कविता का वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ अप्रधान और प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ प्रधान होकर विशिष्ट काव्य

या ध्वनि काव्य की सृष्टि करता है । व्यंग्यार्थ सौन्दर्य के आधार पर वाच्यार्थ से प्रधान होता है । अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक सुन्दर हो वहीं ध्वनि का अस्तित्व स्वीकार किया जायेगा । यदि व्यंग्यार्थ प्रमुख नहीं है तो वह गुणीभूत व्यंग्य होगा । गुणीभूत व्यंग्य का अर्थ है जहाँ व्यंग्यार्थ गौण हो जाय ।

इसके आधार पर काव्य की तीन कोटियाँ होती हैं-(१) ध्वनि काव्य (२) गुणीभूत व्यंग्य (३) चित्रकाव्य जो क्रमशः उत्तम मध्यम और निकृष्ट कोटि के समझे जाते हैं । ध्वनि का विरोध अभाववादी अलंकारवादी, प्रधान वादी, अन्तर्भाववादी लक्षणावादी अनिर्वचनीयतावादी मत समर्थकों ने किया है । आनन्दवर्धन ने इनके तर्कों का खंडन करके व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न कहा । व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ का अन्तर बोद्धा के अनुसार स्वरूप, संख्या निमित्त, काल, कार्य आश्रय आदि के आधार पर बताया जाता है । व्यंग्यार्थ लक्षणा से भी भिन्न है । अभिधावादियों के पाँच वर्ग-अभिहितान्वयवादी, अन्विता भिधान-वादी निमित्तवादी तात्पर्यवादी दीर्घतराभिधा व्यापारवादी इन्होंने ध्वनिवाद का विरोध किया । ध्वनि के सबसे बड़े विरोधी आचार्य महिम भट्ट ने तो उसके विरोध में 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ ही लिख डाला । इनके आक्षेपों को ध्वनिवादियों ने ठीक तरह से उत्तर दिए हैं । वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से आवृत वाच्यार्थ में होता है । व्यंग्यार्थ से सम्बन्धित शब्द अर्थ (वाच्यार्थ) व्यंग्यार्थ व्यंजनाशक्ति व्यंजित-वस्तु अलंकार रस आदि ये सब 'ध्वनि' संज्ञा से अभिभाषित होने योग्य हैं ।

ध्वनि के भेद

इसके दो भेद हैं—(१) अभिधामूला (विवक्षितान्यपरवाच्य) (२) लक्षणा मूला (अविवक्षित वाच्यध्वनि) अभिधामूला में सीधे अभिधेय अर्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है, जबकि लक्षणामूला में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

अभिधामूल ध्वनि के रसध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि ये तीन भेद माने जाते हैं । परन्तु अभिधामूला ध्वनि के स्थूल रूप से दो भेद बताये हैं—

१ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि अथवा अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि ।

२ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि अथवा लक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि ।

अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि (रसादि)

जिस व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नहीं होता वह अलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है ।

अर्थात जब व्यंग्यार्थ प्रतीति में आगे पीछे का (पौर्वापर्य) ज्ञान नहीं रहता कि कब वाच्यार्थ का बोध हुआ और कब व्यंग्यार्थ का—इस ही रसध्वनि कहते हैं। क्योंकि असंलक्ष्यक्रम में व्यंग्य रूप से रस, रसाभास आदि ही ध्वनित होते हैं। इसके आठ भेद हैं—(१) रस (२) रसाभास (३) भाव (४) भावाभास (५) भावशांति (६) भावोदय (७) भावसंधि (८) भावशबलता।

(१) रसध्वनि—जहाँ वर्णन से रस व्यंग्य हो, वहाँ पर रस ध्वनि होती है यथा

पलग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन पग अवनि कठोरा।
जियन मूरि जिमि जोगवत रहेउँ। दीप बाति नहिं टारन कहेउँ॥
सो बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती॥
सो सिय भवन रहे कह अंबा। मो कहँ होय बहुत अवलंबा॥

(२) रसाभास—रसनिष्पत्ति में सहृदयों की दृष्टि से किसी प्रकार का अनौचित्य का दोष आता है तब रसाभास होता है। शृंगार में परपुरुष प्रेम परस्त्री प्रेम आदि इसके उदाहरण हैं। निराला की जुही कली में रसाभास ध्वनि आती है। केशव का एक दोहा देखिए—

केशव केसनि अस करी जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्र वदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं।

(३) भावध्वनि—प्रधानता स प्रतीयमान निर्वेदादि, संचारी देवता आदि विषयक रति और विभवादि के अभाव से उद्बुद्ध मात्र रति आदि स्थाई भावों को भाव कहते हैं।

सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि। —साहित्यदर्पण

(४) भावाभास—भाव में अनौचित्य का दोष आने से भावाभास माना जाता है यथा—

दरपन में निज छाँह सग, लखि प्रियतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह॥

(५) भाव शांति—जहाँ पर किसी उठे हुए भाव की समाप्ति में विशेषता देखी जाती है वहाँ भावशांति होती है—जैसे प्रियप्रवास का एक छंद है—

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो
सवेग आते रथ के समीप थे।
परंतु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द थे।

(६) भावोदय—जहाँ एक भाव के शांत होते ही किसी दूसरे भाव का

चमत्कार पूर्ण उदय दिखाया जाय, वहाँ भावोदय माना जाता है । भाव शांति की अंतिम पंक्ति न देखत थे जब वे मुकुन्द थे' भावोदय की स्थिति की द्योतक है ।

(७) भाव संधि—इसमें दो भावों के सम्मिलन के कारण चमत्कार आ जाता है।

तब तू मार बोई करत ।
रिसनि आग कहे जो आवत अब [illegible] माईं भरति ।

सूर के इस पद में प्रेम के झुंझलाहट का भाव भी व्यक्त हुआ है ।

भावसबलता—जहाँ एक ही क्रम से एक के बाद अनेक भावों के आ जाने से एक ही साथ अनेक भावों का सम्मिलन सौंदर्य हो, वहाँ भाव सबलता होती है । जैसे—

'नंद ब्रज लीजै ठोक बजाय
देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी गोकुलराय ।'

यहाँ पर उत्सुकता, अधीरता, विरक्ति आदि कई भावों का मिश्रण है ।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि काव्य

वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने पर जहाँ उसके बाद व्यंग्यार्थ के प्रकट होने का क्रम रहता है वहाँ यह ध्वनि होती है । इसे अनुरणन ध्वनि भी कहते हैं । इसके तीन प्रमुख भेद हैं—

(१) शब्द शक्ति उद्भव-अनुरणन ध्वनि । (२) अर्थशक्ति उद्भव, अनुरणन ध्वनि । (३) शब्दार्थोभयशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि ।

(१) शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ के बोध कराने की शक्ति किसी शब्द विशेष में होती है वहाँ यह ध्वनि होती है ।

चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गम्भीर
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर ।

इसमें अधोरेखित शब्दों के स्थान पर पर्यायवाची शब्द रखने से व्यंग्यार्थ नहीं होगा । इसके ४ उपभेद हैं–पदगत वस्तुध्वनि, वाक्यगत वस्तुध्वनि । पदगत अलंकार ध्वनि, वाक्यगत अलंकार ध्वनि ।

(२) अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—इसमें वाच्यार्थ निकलने पर फिर व्यंग्यार्थ का बोध होता है । इसके तीन भेद हैं–स्वतः संभवी कवि प्रौढोक्ति सिद्ध, कवि निबद्धमान पात्र प्रौढोक्ति सिद्ध । इनमें से प्रत्येक के चार भेद हैं–वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु, अलंकार से अलंकार । इसके बाद प्रत्येक के पदगत, वाक्यगत, प्रबंधगत ये तीन भेद हैं । कवि प्रौढोक्ति

द्वारा पदगत वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण देखिए—

सिय वियोग दुख केहि विधि कहौं बखानि।
फूल बान से मनसिज, बेधत आनि॥

(३) उभयशक्ति मूलक अनुरणन ध्वनि—कहीं कहीं शब्द और अर्थ उभयमूलक ध्वनि के मिश्रित उदाहरण मिलते हैं। यथा—

अनुपम चन्द्राभरन जुत मनमथ प्रबल बढ़ात
तरल तारका कलित यह, श्यामा ललित सुहात।

लक्षणामूला ध्वनि या अविक्षित वाच्य ध्वनि

जिसके मूल मे लक्षणा हो उसे लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं। लक्षणामूला को अविवक्षित वाच्य ध्वनि इसीलिये कहते हैं कि उसमें वाच्यार्थ की विवक्षा (प्रयोजन) नही रहती। इसके प्रमुख दो भेद हैं—(१) अर्थान्तर सक्रमित, (२) अत्यन्त तिरस्कृत।

(१) अर्थान्तर सक्रमित वाच्यध्वनि—इसम वाच्यार्थ अपना पूर्ण तिरोभाव न करके अपना अर्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ म सक्रमण करता है, तब यह ध्वनि होती है।

लका म एक था विभीषण भारत म बहुतेरे
कसे नेता कुछ कर लेंगे मिलकर आज घनेरे

(२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि—इसमे वाच्यार्थ असगत होने से सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है, केवल व्यग्य ही प्रधान रहता है।

बापू तुम हो मानव अथवा विभु हो विमल विभूत।
चक्रकेतु भारत के रथ के सूत्रधार स्वदूत॥ सुधीन्द्र।

ध्वनि के भेदोपभेद अनगिनत—लगभग १०,४५५ हैं। अतएव प्रत्येक का उदाहरण देना असभव है। यहाँ केवल प्रमुख भेदो पर ही विचार किया है।

ध्वनि और रस

ध्वनिकार ने रसध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गए हैं उनमे उत्तम काव्य के तीन भेद हैं–रसध्वनि, वस्तुध्वनि, और अलकार ध्वनि। इनमें रसध्वनि श्रेष्ठ है। इस प्रकार ध्वनि सिद्धात के अनुसार रस काव्य का मूलाधार है। बहुत विद्वानो ने ध्वनिसिद्धात को रस सिद्धान्त का ही विस्तार कहा है। आनन्दवर्धन ने रस की महत्ता प्रतिपादित की है। रस के अभाव म काव्य की कल्पना ही नही की जा सकती। रस अलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि है। यही काव्य रसभावादि काव्य है। आनन्दवर्धन ने कहा है कि जिस प्रकार रत्न का मूल्य केवल जौहरी परख

सकता है उसी प्रकार काव्यगत रस की प्रतीति केवल सहृदय को ही हो सकती है। रस प्रतीति में कारण और कार्य का क्रम सलक्षित होता है। आनन्द का कहना है कि यह सम्बन्ध अतिशय सूक्ष्म और जटिल है और उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। रस-ध्वनि का प्रादुर्भाव केवल शब्दों से और वाक्यों से ही नहीं बल्कि सघटना और प्रबन्ध का भी उसके लिए महत्त्व है। समस्त काव्य व्यापार के मूल में रस है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—'अपनी कल्पना शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनका सुनकर सुहृदय को केवल अर्थ बोध ही नहीं होता वरन उनके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है, जो परिणति की अवस्था मे पहुंचकर रूप सवेदना म विशेषरूप से सहायक होती है। शब्द की इस सवेद्य रूप को ही 'रस ध्वनि' कहते है।' इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय ने रस को ही सर्वोच्च स्थान दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि रस साध्य है और ध्वनि साधिका है।

ध्वनि उतनी व्यापक नही है जितना रस। रस का सम्बन्ध काव्य के आधारभूत तत्त्वो म है जबकि ध्वनि केवल एक अभिव्यक्ति है। और यह अभिव्यक्ति रसानुभूति के लिए सहायक है। ध्वनि का मूल लक्ष्य प्रतीयमान अर्थ ही रहा है। ध्वनि सम्प्रदाय अपने आप मे एक पूर्ण सिद्धात नही है वह रस और अलकार को आधार बनाकर ही आगे बढ सका। काव्य की आत्मा रस है और रस के एक सहायक रूप म ध्वनि आती है।

औचित्य सम्प्रदाय

ऐतिहासिक विकास क्रम

आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। परन्तु इसके पूर्व भी औचित्य की चर्चा सामान्य रूप से आचार्यों ने की थी। औचित्य पर विस्तार पूर्वक चर्चा करने का श्रेय भरतमुनि आनन्दवर्धनाचार्य और क्षेमेन्द्र को है। भरतमुनि के बाद माघ, भामह दडी, यशोवर्मा भट्ट लोल्लट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर अभिनवगुप्त, भोजराज कुन्तक महिम भट्ट और क्षमेन्द्र ने औचित्य पर प्रकाश डाला है। भरत मुनि का औचित्य की विवेचना नाटक से सम्बन्ध रखती है। भरत ने औचित्य शब्द का प्रयोग नही किया किन्तु पात्र के अनुरूप भाषा, वेष, चरित्र, *अभिनय आदि का प्रतिपादन किया। माघ ने* अपने 'शिशुपाल वध मे गुणौचित्य और रसौचित्य की ओर सकेत किया है। कवि को औचित्य को दृष्टि म रखकर प्रसाद, ओज आदि गुणों का प्रयोग करना चाहिए। भामह ने काव्य का अनिवार्य गुण औचित्य और काव्यदोष

को अनौचित्य कहा है। दंडी ने भी औचित्य की ओर संकेत किया है। दंडी का कथन है कि उचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर दोष का दोषत्व भी मिट जाता है। यशोवर्मा ने वचनौचित्य को नाटक के गुणों में सर्वप्रथम स्थान दिया है। भट्ट लोल्लट ने रस निष्पत्ति के लिए औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है और रसौचित्य की ओर संकेत किया। रुद्रट ने भी औचित्य और रस पर विचार किया था। उन्होंने औचित्य शब्द का शास्त्रीय रूप में उल्लेख किया। रुद्रट ने अलंकारों को रसौचित्य के आश्रित माना है। रुद्रट ने दोषों का दोषत्व अनौचित्य के कारण माना है। उन्होंने औचित्य सम्प्रदाय के बीज को प्रस्फुटित किया है। आनन्दवर्धन ने औचित्य के सम्बन्ध में लिखा है कि रसभंग का कारण अनौचित्य के सिवा दूसरा कोई नहीं है। अनौचित्य पर बंधन रखना ही रस संचार का रहस्य है उन्होंने रस संचार में छः औचित्य के प्रकारों को सहायक माना है—(१) रसौचित्य (२) अलंकारौचित्य (३) गुणौचित्य (४) संघटनौचित्य (५) प्रबंधौचित्य और रीति-औचित्य। अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन के औचित्य सिद्धान्त का समर्थन किया। भोजराज ने औचित्य पर गौण रूप से विचार किया है, कुन्तक ने वक्रोक्ति के सहायक रूप में औचित्य की विवेचना की है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का प्राण मानते हुए चर्चा की है।

औचित्य सिद्धांत

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' अर्थात् औचित्य को काव्यजीवित माना है। इसकी परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं कि जो जिसके योग्य है आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं—उस का भाव औचित्य है।" औचित्य को रसहीन काव्य के जीवित मानने का सिद्धान्त ग्राह्य नहीं हो सकता। औचित्य का सम्बन्ध रस के जैसा काव्य के सभी अन्य तत्त्वों और उपादानों से है। औचित्य का काम काव्य के सम्बन्धों की उचित व्यवस्था करना है। काव्यगत चमत्कार तथा चारुता और औचित्य में कार्य कारण सम्बन्ध है। काव्य के रस अलंकार गुण आदि का औचित्य ही जीवन है। रस को छोड़कर अन्य तत्त्वों से औचित्य का शरीर एवं शरीर का सम्बन्ध है रस एवं औचित्य से आत्मा तथा जीव का सम्बन्ध है। जिन काव्यों में औचित्यहीन अलंकारों एवं गुणों का प्रयोग किया जाता है वह निकृष्ट होता है। हाथों में नूपुर, चरणों में केयूर आदि का अनुचित मात्रा में वर्णन करने से काव्य हास्यास्पद हो जाता है। औचित्य रक्षा के बिना न तो अलंकार सौंदर्य का उन्मेष कर सकते हैं और न गुण ही। रस और ध्वनि के सिद्धान्त पर क्षेमेन्द्र के सभी प्रकार के औचित्यों की व्याख्या प्रतिष्ठित है। औचित्य

सम्प्रदाय के सभी आचार्यों ने रस परिपाक का मूल तत्त्व औचित्य ही माना है। रस और औचित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए औचित्य को रस का जीवन इन आचार्यों ने माना है। क्षेमेन्द्र रस को काव्य की आत्मा और औचित्य को उसका जीवन मानते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार कवि का मुख्य कर्म–रस आदि विषय से सम्बन्धित औचित्य की योजना ही है।

औचित्य के भेद

क्षेमेन्द्र ने काव्य के विविध अंगों के अनुरूप 'औचित्य विचार चर्चा' में प्रमुख २७ भेद माने हैं–पद वाक्य, प्रबन्धार्थ गुण, अलंकार रस क्रिया, कारक लिंग वचन, विशेषण, उपसर्ग निपात काल, देश, कुल व्रत तत्त्व सत्त्व, अभिप्राय स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद।

पाश्चात्य–साहित्य के मानदंड

अनुकरण सिद्धांत [अनुकृति सिद्धांत, मिमेसिस Mimesis]

पाश्चात्य राष्ट्रों में प्लेटो और अरस्तू ने ही सर्वप्रथम मौलिक उद्भावनाएँ आलोचना क्षेत्र में प्रस्तुत की हैं। प्लेटो का दृष्टिकोण मूलतः दार्शनिक रहा है और इसी कारण वे साहित्य शास्त्र के प्रति न्याय नहीं कर सके। उन्होंने अपनी कृति 'रिपब्लिक' में कवियों और काव्य का विरोध किया और उन्हें हेय और निंदनीय बताया। रिपब्लिक के तीसरे और विशेषतया दसवें भाग में प्लेटो ने कला का घोर विरोध किया है। काव्य को कला ही माना है। प्लेटो के अनुसार काव्य मनुष्य की वासना को उत्तेजित कर उसे विवेकहीन बनाता है। प्लेटो ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि कला सत्य का आभास देती है अतः मिथ्या है। जैसे बढ़ई के मन में आदर्श पलँग की कल्पना विचारों के जगत से प्राप्त होती है जहाँ से समस्त कल्पनाएँ अथवा आभास प्राप्त होते हैं, अकेली वास्तविक सत्ता है। ईश्वर बढ़ई का पलंग उसका अनुकरण है। और चित्रकार द्वारा चित्रित पलँग उस अनुकरण का अनुकरण है। इस प्रकार प्लेटो के अनुसार समस्त कला अनुकृति की अनुकृति है। इसके साथ ही कलाकार का स्थान अथवा ललित कलाओं का स्थान उपयोगी कलाओं से हीन माना गया है। प्लेटो ने काव्य को एक प्रकार का उन्माद माना है। कवि कविता रचना के समय में उन्माद की दशा में रहता है अतएव उस पर तर्क और विवेक का नियंत्रण नहीं रहता और भावुक आवेगना के कारण अनैतिकता का प्रचार भी करता है।

अरस्तू ने प्लेटो द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की चर्चा की है। प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा के स्रोत भिन्न हैं। प्लेटो गणितज्ञ था और अरस्तू जीव वैज्ञानिक। अरस्तू ने सर्वप्रथम काव्य की स्वतंत्र सत्ता मानकर उसका विवेचन किया है। अरस्तू ने भी काव्य को अनुकृति ही माना है। प्लेटो ने अनुकरण को हूबहू नकल माना है। अरस्तू ने इसे नया अर्थ देकर सादृश्य विधान या मूल का पुनरुत्पादन माना है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू ने सर्जन का अभाव नहीं माना बल्कि अनुभूति का पुनः सर्जन माना है। काव्य चित्र संगीत आदि सभी कलाएँ हैं जिनके मूल में अनुकृति ही है। अरस्तू अनुकृति का वर्गीकरण माध्यम

(means) विषय (object) एवं रीति (manner) के अनुसार करते हैं।

माध्यम या उपकरण—प्रत्येक कला के उपकरण भिन्न भिन्न होते हैं। संगीत में सामंजस्य और लय का, नृत्य में रूप का, चित्रकला में रंग रूप का तथा साहित्य में भाषा चाहे गद्य या पद्य की माध्यम का उपयोग होता है। काव्य के लिए छन्द आवश्यक नहीं है। अरस्तू ने होमर और एम्पीडोक्लिस की रचनाओं को लिया है। दोनों की रचनाएँ पद्य में हैं, किन्तु होमर को ही कवि की संज्ञा दी जाती है एम्पीडोक्लिस को नहीं। विज्ञान और दर्शन की विषय सामग्री पद्यबद्ध करने से वे काव्य ग्रन्थ नहीं बनेंगे। अरस्तू ने यह स्थापित किया कि गद्य में भी काव्यगत विशेषताएं पाई जाती हैं और कोई भी कृति केवल पद्य बद्ध होने से काव्य नहीं हो सकती।

विषय—अरस्तू ने काव्यगत अनुकृति का विषय मानवीय क्रिया व्यापार माना है। मानव जीवन से संबंधित सभी घटनाएँ अनुकृति का विषय बन सकती हैं। अरस्तू ने लिखा है कि अनुकरण के विषय मनुष्य के कार्य व्यापार हैं और ये अच्छे या बुरे होते हैं। यह विभाजन मुख्यतया नैतिक आचरण पर आधारित है। और नैतिक अन्तर के विभाजक लक्षण हैं सद्वृत्ति या असद्वृत्ति। अतएव हमें मानव का यथार्थ से श्रेष्ठतर हीनतर या यथावत् रूप प्रस्तुत करना होगा। यहाँ अरस्तू की नैतिकता प्लेटो की नैतिकता से भिन्न है। वह राजनीति अथवा गणतन्त्रीय सिद्धांतों से जकड़ी हुई नहीं है बल्कि जीवन की समग्रता और गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करती है। मनुष्य के समान ही कामदी और त्रासदी में भेद है। कामदी का लक्ष्य मानव का हीनतर चित्रण करना होता है तो त्रासदी का लक्ष्य श्रेष्ठतर चित्रण। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि कार्य का यही अर्थ उन सब वस्तुओं से लिया जायगा जो मानसिक क्रिया व्यक्त करती हैं। पर ये मानव के ही कार्य होने चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार पशु पक्षी एवं प्राकृतिक दृश्य अनुकृति के विषय में नहीं हो सकते। समूचा ब्रह्मांड कला के लिए विषय प्रदान नहीं करता। रीति (शैली)—अरस्तू ने तीन शैलियों का उल्लेख किया है। १—वर्णन द्वारा जहाँ कवि स्वयं अथवा पात्रों द्वारा कुछ कहता है—यथा होमर का काव्य। २—प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कवि सर्वत्र एक जैसा ही रूप रखे। (३) हमारे सामने पात्रों को जीवन्त और हिलते डुलते रूप में रखे। इन्हीं तीनों को हम प्रबन्धात्मक, गीति एवं नाट्य रीतियाँ कह सकते हैं।

अरस्तू ने अनुकृति को महत्त्व दिया है। काव्य की सृष्टि और उसके आस्वादन का मूल कारण अनुकृति को ही उसने माना है। काव्य प्रस्फुटन के कारण हैं अनुकरण की सहज प्रवृत्ति, और सामंजस्य और लय की प्रवृत्ति।

का-यास्वादन भी मनुष्य की अनुकरण प्रवृत्ति के कारण ही हो सकता है। अनुकरण करने का कारण यह है कि उससे हमे आनन्द मिलता है। जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें दुख होता है उनकी यथावत अनुकृति से आनन्द होता है। अनुकृति को देखकर आनन्द इसीलिए होता है कि उससे वह (मनुष्य) ज्ञान प्राप्त करता है और वस्तुओं का अर्थग्रहण करता हुआ सोचता है, यह तो वह है। वस्तुत जो वस्तुएँ पहले देखी नही उसकी अनुकृति भी आनन्ददायिनी होती है। अरस्तू के सिद्धांत के विपरीत होकर भी सच है। अरस्तू ने तीन प्रकार की वस्तुओं को अनुकृति के लिए योग्य माना है रूप-यथार्थ जगत् जिसका मूल अस्तित्व है, प्रतीयमान रूप मानसिक बिम्ब द्वारा सम्भावित रूप, आदर्श रूप जसी उन्हें होनी चाहिए। इनम प्रथम में इन्द्रियजन्य रूप की प्रधानता है, और शेष दो मे कल्पना की। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कला प्रकृति का दर्पण है तो कला की आवश्यकता क्या है। प्रकृति स्वय हमारी इन्द्रियों के लिए बोधगम्य है। हम कला की ओर आकर्षित इसीलिए होते हैं कि जो कला प्रदान करती है उसे प्रकृति नहीं दे सकती। यहा अरस्तू का मत प्लेटो से भिन्न होता है। कला हूबहू अनुकृति नहीं है, बल्कि नयी निर्मिति है जिसम कलाकार की भावना का योग रहता है, कारण कवि प्रतीयमान प्रकृति का अकन करता है दृश्यमान का नही। अरस्तू के प्रकृति का अनुकृति सिद्धांत पर परवर्ती विद्वानो ने पर्याप्त चर्चा की है। अरस्तू ने शिव, सत्य और उसके सौंदर्य की प्रतिष्ठा इस सिद्धान्त के द्वारा की है।

विरेचन सिद्धांत [Katharsis कैथार्सिस]

अरस्तू के अनुकृति सिद्धात की अपेक्षा कैथार्सिस सिद्धात ने अधिक ख्याति पाई है। यह सिद्धान्त अरस्तू की महत्वपूर्ण देन है। विरेचन शब्द (Catharsis) यूनानी भाषा से अंग्रेजी म यथावत् ले लिया गया। विरेचन शब्द का धातुजन्य अर्थ है स्वच्छ करना अथवा चयन करना। कैथार्सिस शब्द यूनानी है और अंग्रेजी मे वह ज्यों का त्यों स्वीकृत किया गया है। अरस्तू ने त्रासदी के सम्बन्ध में 'पोएटिक्स' में इस शब्द का प्रयोग किया। यह शब्द मूलत चिकित्साशास्त्र का है जिस का अर्थ है रेचन औषधियों द्वारा पेट शुद्धि करना। अर्थात् शारीरिक विकारों की अथवा सम्पूर्ण शरीर की शुद्धि इसका अर्थ होता है। अरस्तू के पूर्व भी यह शब्द यूनान म प्रचलित था किन्तु चिकित्साशास्त्र के इस शब्द का प्रयोग प्रथमत अरस्तू ने ही साहित्य या कला के संदर्भ म किया। प्लेटो ने काव्य और कला पर यह आक्षेप लगाया था कि इनमे हमारा दूषित वासनाएं एव मनोविकार शांत न होकर उत्तेजित होते हैं, पुष्ट होते हैं और इसी कारण

(means) विषय (object) एव रीति (manner) क अनुसार करते हैं।

माध्यम या उपकरण–प्रत्येक कला क उपकरण भिन्न भिन्न होत हैं। सगीत म सामजस्य और लय का नत्य म ल्य का, चित्रकला म रग रूप का तथा साहित्य में भाषा चाहे गद्य या पद्य की माध्यम का उपयोग होता है। काव्य के लिए छन्द आवश्यक नही है। अरस्तू न होमर और एम्पीडोक्लिस की रचनाओ को लिया है। दोनो की रचनाए पद्य म है, किन्तु होमर का ही कवि की सज्ञा दी जाती है एम्पीडोक्लिस को नही। विज्ञान और दशन की विषय सामग्री पद्यबद्ध करने स वे का य ग्र थ नही बनेंगे। अरस्तू न यह स्थापित किया कि गद्य म भी का यगत विशषताए पाई जाती हैं और कोई भी कृति केवल पद्य बद्ध होने से का य नही हो सकती।

विषय—अरस्तू न का=यगत अनुकृति का विषय मानवीय क्रिया यापार माना है। मानव जीवन से सबधित सभी घटनाए अनुकृति या विषय बन सकती हैं। अरस्तू ने लिखा है कि अनुकरण के विषय मनुष्य के काय यापार हैं और ये अच्छे या बुरे होते हैं। यह विभाजन मुख्यतया नतिक आचरण पर आधारित है। और नतिक अ तर क विभेदक ल ण हैं सदवत्ति या असद्वत्ति। अतएव हमे मानव का यथाथ से श्रेष्ठतर हीनतर या यथावत रूप प्रस्तुत करना होगा। यहा अरस्तू की नतिकता प्लेटो की नतिकता स भिन्न है। वह राज नीति अथवा गणतत्रीय सिद्धाता से जकडी हुई नही है बल्कि जीवन को सम ग्रतया और गभीरतापूवक ग्रहण करती है। मनुष्य के समान ही कामदी और त्रासदी म भेद है। कामदी का लक्ष्य मानव का हीनतर चित्रण करना होता है तो त्रासदी का लक्ष्य भ यतर चित्रण। यहा स्मरण रखना चाहिए कि काय का यहा अथ उन सब वस्तुओ से लिया जायगा जो मानसिक क्रिया यक्त करती हैं। पर य मानव के ही काय होने चाहिए। इस सिद्धात के अनुसार पशु पक्षी एव प्राकृतिक दश्य अनुकृति के विषय म नही हो सकते। समूचा ब्रह्माड कला के लिए विषय प्रदान नही करता। रीति (शली)–अरस्तू ने तीन शलियो का उल्लेख किया है। १ — वणन द्वारा जहा कवि स्वय अथवा पात्रो द्वारा कुछ कहता है–यथा होमर का काव्य। २— प्रारम्भ से लेकर अ त तक कवि सवत्र एक जसा ही रूप रखे। (३) हमारे सामने पात्रो को जीवत और हिलते डुलते रूप म रखे। इन्ही तीनो को हम प्रब धात्मक, गीति एव नाटय रीतियाँ कह सकते हैं।

अरस्तू ने अनुकृति को महत्त्व दिया है। का य की सष्टि और उसके आस्वादन का मूल कारण अनुकृति का ही उसने माना है। का य प्रस्फटन के कारण हैं अनुकरण की सहज प्रवत्ति, और सामजस्य और लय की प्रवत्ति।

काव्यास्वादन भी मनुष्य की अनुकरण प्रवृत्ति के कारण ही हो सकता है। अनुकरण करने का कारण यह है कि उससे हम आनन्द मिलता है। जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें दुःख होता है उनकी यथावत अनुकृति से आनन्द होता है। अनुकृति को देखकर आनन्द इसीलिए होता है कि उससे वह (मनुष्य) ज्ञान प्राप्त करता है और वस्तुओं का अर्थग्रहण करता हुआ सोचता है यह तो वह है। वस्तुत जो वस्तुएँ पहले देखी नहीं उसकी अनुकृति भी आनन्ददायिनी होती है। अरस्तू के सिद्धान्त के विपरीत होकर भी सच है। अरस्तू ने तीन प्रकार की वस्तुओं को अनुकृति के लिए योग्य माना है रूप-यथार्थ जगत जिसका मूर्त अस्तित्व है प्रतीयमान रूप मानसिक बिम्ब द्वारा सम्भावित रूप आदर्शरूप जैसी उन्हें होनी चाहिए। इनमें प्रथम में इन्द्रियजन्य रूप की प्रधानता है, और शेष दो में कल्पना की। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कला प्रकृति का दर्पण है तो कला की आवश्यकता क्या है। प्रकृति स्वयं हमारी इन्द्रियों के लिए बोधगम्य है। हम कला की ओर आकर्षित इसीलिए होते हैं कि जो कला प्रदान करती है वह प्रकृति नहीं दे सकती। यहाँ अरस्तू का मत प्लेटो से भिन्न होता है। कला हूबहू अनुकृति नहीं है, बल्कि नयी निर्मिति है जिसमें कलाकार की भावना का योग रहता है कारण कवि प्रतीयमान प्रकृति का अंकन करता है दृश्यमान का नहीं। अरस्तू ने प्रकृति की अनुकृति सिद्धान्त पर परवर्ती विद्वानों ने पर्याप्त चर्चा की है। अरस्तू ने शिव, सत्य और उसके सौंदर्य की प्रतिष्ठा इस सिद्धान्त के द्वारा की है।

विरेचन सिद्धांत [ha harsis कैथार्सिस]

अरस्तू के अनुकृति सिद्धान्त की अपेक्षा कैथार्सिस सिद्धान्त ने अधिक ख्याति पाई है। यह सिद्धान्त अरस्तू की महत्त्वपूर्ण देन है। विरेचन शब्द (Catharsis) यूनानी भाषा से अंग्रेजी में यथावत ले लिया गया। विरेचन शब्द का धातुजन्य अर्थ है स्वच्छ करना अथवा वमन करना। कैथार्सिस शब्द यूनानी है और अंग्रेजी में वह ज्यों का त्यों स्वीकृत किया गया है। अरस्तू ने त्रासदी के सम्बन्ध में पोएटिक्स में इस शब्द का प्रयोग किया। यह शब्द मूलतः चिकित्साशास्त्र का है जिसका अर्थ है रेचक औषधियों द्वारा पेट शुद्धि करना। अर्थात् शारीरिक विकारों की अथवा समूचे शरीर की शुद्धि इसका अर्थ होता है। अरस्तू के पूर्व भी यह शब्द यूनान में प्रचलित था किन्तु चिकित्साशास्त्र के इस शब्द का प्रयोग प्रथमतः अरस्तू ने ही साहित्य या कला के सन्दर्भ में किया। प्लेटो ने काव्य और कला पर यह आक्षेप लगाया था कि इनसे हमारी दूषित वासनाएँ एवं मनोविकार शान्त न होकर उत्तेजित होते हैं, पुष्ट होते हैं और इसी

नागरिक अपने सद्कार्यों से विमुख होकर समाज की हानि करते हैं। अरस्तू ने मानो इसका खंडन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि साहित्य अथवा कला हमारी दूषित मनोवृत्तियों या विचारों को बढ़ावा न देकर उनका उचित रूप से विरेचन करती है, परिशोधन करती है अतएव काव्य कला ग्रहणीय नहीं है बल्कि हित कारक है। त्रासदी द्वारा उद्बुद्ध भय और करुणा की भावना रंगमंचीय अभिनय में अपना संतुलन कर लेगी और उसमें भी जो अतिरिक्त मात्रा रहेगी उसका परिमार्जन हो जायेगा। अरस्तू ने कथार्सिस शब्द का प्रयोग किया किन्तु उसकी व्याख्या नहीं की। परवर्ती विद्वानों ने तीन प्रकार से कथार्सिस की व्याख्या की धर्मपरक, नीतिपरक, कलापरक।

१ धर्मपरक—यूनान में वर्षारम्भ के अवसर पर दिओन्यासस देवता की उपासना में प्रार्थना की जाती थी कि विगत वर्षों के पापों से मुक्ति कर आगामी वर्ष के लिए विवेकपूर्ण शुद्ध हृदय कृतियों को उत्पन्न करो। 'राजनीति' में अरस्तू ने हाल की स्थिति में उद्दाम संगीत का उपयोग माना है। यानी आंतरिक विकारों का शमन बाह्य साधनों द्वारा होता था। धार्मिक व्याख्याकारों का प्रतिपादन है कि अरस्तू ने विरेचन का लाक्षणिक प्रयोग धर्म के आधार पर किया है। प्रो० मरे ने इस पर प्रकाश डाला है।

२ नीतिपरक—जर्मन विद्वान बारनेज ने नीतिवादियों की दृष्टि से इस पर प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार विरेचन का अर्थ है मनोविकारों की उत्तेजना के पश्चात उनकी शांति। उन्होंने लिखा है कि मनुष्य के मन में अनेक प्रबल मनोविकार होते हैं। इनमें करुणा एवं त्रास (Pity and Terror) बड़े दुःखदायक होते हैं। हरेक व्यक्ति में ये वासनारूप में या बीजरूप में विद्यमान होते हैं। त्रासदी में इन्हें अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। दर्शक या पाठक के चित्त में त्रासदी के प्रभाव से बीजरूप में स्थित करुणा एवं त्रास पूर्णतया उद्दीप्त होते हैं और बाद में शमित होते हैं। इस प्रकार त्रासदी के द्वारा प्रेक्षक के मनोविकारों का दंश समाप्त हो जाता है और उसे आंतरिक उल्लास का अनुभव होता है। और वह मानसिक शांति का भी अनुभव करता है। इस प्रकार विरेचन का अर्थ हुआ मनोवेगों का संचार, शमन और मानसिक शांति।

३ कलापरक—विरेचन का कलापरक अर्थ रोमांटिक कवि गटे और बूचर करते हैं। बूचर का कहना है कि यह केवल मनोविज्ञान अथवा निदान शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर एक कला सिद्धांत का अभिव्यंजक है। त्रासदी में त्रास अथवा करुणा मनोविकारों की केवल अभिव्यक्ति ही नहीं होती बल्कि मनोभावों को कला के सांचे में ढाल भी दिया जाता है।

इन भावों का परिष्कार कला के भावों के रूप में होता है। ये भाव कलात्मक स्तर पर आकर आनन्द प्रदान करते हैं।

इन तीनों में से अरस्तू को कौन सा अर्थ अभिप्रेत था, यह कहना कठिन होगा। किन्तु इन तीनों व्याख्याओं में सत्य का अंश है।

कथार्सिस के विभिन्न अर्थ किये गये हैं। जर्मन लेखक लेसिंग विरेचन की अपेक्षा (Purgation) शुद्धिकरण पर (Purification) पर अधिक बल देता है। कुछ विद्वानों ने उन्नयन (Sublimation) का अर्थ किया है। मिल्टन के अनुसार इसमें होमियोपैथिक पद्धति है। काँटे के द्वारा काँटा निकाला जाता है *अथवा शरीर का अत्यधिक अम्ल या क्षार बाहर निकालने के लिये अम्ल या* क्षार का ही उपयोग किया जाता है उसी प्रकार मन में स्थित भयानुकम्पा को निष्कासित करने के लिये साहित्य में वर्णित उन्हीं भावों का प्रयोग किया जाता है।

विरेचन की स्थिति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में मतभेद है। लेसिंग पाठक या दर्शक के मन में विरेचन मानता है। रिचर्डस भावनाओं की समाधानता–(भय और करुण का सतुलित हो जाना) को विरेचन मानते हैं।

अरस्तू के विरेचन और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद में थोड़ा सा साम्य भेद है। दोनों रसास्वाद या काव्यानन्द के मूल में वासनाओं के विरेचन या अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। भेद इसी प्रकार हैं—अरस्तू केवल दूषित भावनाओं की बात कहते हैं वहाँ अभिनव गुप्त सभी प्रकार की वासनाओं की अभिव्यक्ति की बात करते हैं। अरस्तू का सिद्धान्त दो भाव–करुणा एवं त्रास तक सीमित है अभिनवगुप्त का सिद्धान्त सभी भावों पर लागू होता है।

करुणरस और कैथार्सिस

करुण रस की स्थापना अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त की एक प्रमुख उपलब्धि है। त्रासदी भय और करुणा से परिपूर्ण रचना मानी गयी है। (उत्तर रामचरित में भय नहीं है।) तो फिर करुणा से शोक के बदले आनन्द का अनुभव कैसे होता है? अरस्तू ने लिखा है कि मनोभावों का विरेचन होने से शोक या भय का उद्रेक अंश निकल जाता है और पाठक या दर्शक मानसिक शान्ति का अनुभव करता है, तत्पश्चात् उस आनन्द की अनुभूति होती है। इसी प्रकार भावात्मक और अभावात्मक पद्धति द्वारा आनन्द की अनुभूति होती है। प्रथम में मनोभावों के उत्तेजित होकर उनके निकल जाने के पश्चात् शान्ति का अनुभव होता है और आनन्दानुभव होता है, दूसरे में विरेचन होने से दुःख का अभाव हो जाता है, जो शान्तिजनक है। वही आनन्द है। प्रो॰

बूचर ने कहा है कि लौकिक जीवन में करुणा और त्रास दुःखदायक हैं किन्तु काव्य में नहीं है। कारण उनका साधारणीकरण हो जाता है। यहाँ वैयक्तिक दुःख से मुक्त होकर उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है और उसका अ.न विकास होता है। तब उसे करुणा एवं त्रास भाव भी उदात्तरूप में आनन्दप्रद लगते हैं। यदि ऐसा न हो तो लोग पैसे खर्च करके करुण नाटक देखने के लिये क्यों जाएँ? बूचर ने दूसरा कारण यह बतलाया कि उसमें करुणादि भावों का सात्विकीकरण हो जाता है और तदनु ये भाव सुखकारक लगते हैं।

कथार्सिस पर आक्षेप—(१) त्रासदी से करुणा एवं त्रास मनोभावों का जाग्रत होना, उनका विरेचन होना यहाँ तक ठीक है। परन्तु इससे शान्ति नहीं मिलती। इसका व्यावहारिक उत्तर यह दिया जाता है कि प्रेक्षक पैसे देकर दुःख नहीं खरीदेगा। यह उत्तर तर्कसंगत नहीं है। (२) प्रेक्षकों को रंगशाला में सदैव यह ध्यान रहता है कि मंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित भाव नितान्त अवास्तविक हैं फलतः भाव उद्बुद्ध नहीं होते, तो विरेचन कैसे हो सकेगा? उत्तर में यह कहा जाता है कि उत्तररामचरित अथवा मराठी का 'एकचप्याला' नाटक देखकर दर्शक आँसू बहाते हैं।

विरेचन सिद्धान्त को कुछ विद्वान अपूर्ण और सीमित मानते हैं। इस आक्षेप में तथ्य है। तथापि अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त में एक बड़ा योगदान अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त ने काव्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रवेश कराया। डॉ० नगेन्द्र ने अभिनव के सत्वोद्रेक अरस्तू के विरेचन, रिचड्स के अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य, आचार्य शुक्ल के हृदय की मुक्तावस्था को लगभग अभिन्न माना है।

उदात्त तत्त्व

यूनानी काव्यशास्त्र में अरस्तू के बाद लाजाइनस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। सन् १५५४ में पहली बार 'परिइप्सुस' का अंग्रेजी में On the Sublime नाम से प्रकाशित हुआ। लोंजाइनस प्लेटो से अत्यधिक प्रभावित था। उसने पाश्चात्य आलोचना में प्रथमतः स्वच्छन्दतावाद की प्रतिष्ठा की। ऑन दि सब्लाइम (औदात्य ऊँचाई) में अनेक मौलिक सिद्धान्त मिलते हैं। लाजाइनस से पूर्व आलोचक कवि का उद्देश्य पाठक का प्रबोधन और शिक्षा प्रदान करना तथा वक्ता और गद्यकार का अपनी बात मनवाना मानते थे। लाजाइनस ने इसके स्थान पर शैली का उद्देश्य सीमातीत उल्लास अथवा हर्ष प्रदान करना बतलाया। इस हर्षातिरेक अवस्था से पाठक आत्मविभोर होकर इस पार्थिव जगत से उठकर किसी कल्पना लोक में विचरण करने लगे। कला

कार की शली म यह गुण प्रतिभा एव कला क अध्ययन तथा अनुकरण द्वारा हो आता है । इसके लिय प्रतिभा और अभ्यास आवश्यक है । औदात्य आत्मा की महानता की प्रतिमा है । (Sublimity is, so to say, the image of greatness of soul) सच्चा औदात्य उन्ही म प्राप्त हो सकता है जिनकी चतना उदात्त एव विकासो मुख है । जो अपना जीवन सकीण एव तुच्छ विचारो का अनुसरण करते हुय व्यतीत करत हैं, उनस उदात्तता की अपक्षा नहीं की जाती । जिनकी वासनाएँ अपरिष्कृत और प्रवृत्तियाँ क्षुद्र होती हैं अथवा जो विद्वान अहकारी स्वार्थी और दम्भी होते हैं उनसे उदात्तता की सष्टि नही हो सकती । जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाओ से परिपूण हैं उ ही की वाणी से उदात्त शब्द निर्मित हो सकते हैं । इस प्रकार उदात्तता का सम्बन्ध मनुष्य के समूच व्यक्तित्व से है । उदात्तता का विवचन करते हुए उसने लिखा है कि वह शली का विशेष गुण है उसम भावोत्तजक शक्ति होती है प्रभविष्णुता होती और उसके कारण रचना म एकाएक चमत्कार स्फुरित होता है । लोंजाइनस ने उदात्तता को अभिव्यक्ति की उच्चता और उत्कृष्टता (शैली का गुण) माना । अभिव्यक्ति की उच्चता श्रोता क तक का समाधान करत हुये उसे अभिभूत कर लेती है—(भावोत्पादक) । उदात्तता अपनी प्रबल और दुर्निवार शक्ति के कारण प्रत्यक पाठक को सहज रूप से बहा ले जाता है (भावावग) । उदात्त विचार यदि अवसर अनुकूल हो तो चकाचौंध बिजली की भाँति चमकता है और सपूण विषय वस्तु को प्रकाशित कर देता है । (चमत्कार) । इसस स्पष्ट है कि लोंजाइनस के अनुसार उदात्तता एक भाव भी है शली भी और विचार भी । उदात्तता को यहाँ अतिशय व्यापक रूप म ग्रहण किया गया है ।

उदात्तता क पाच स्रोत—लोंजाइनस के द्वारा प्रतिपादित पाच स्रोतो का क्रमश दखेंगे—

(१) विचार गरिमा (Grandeur of Thought)—उदात्तता प्रकृति की दन है वह अर्जित गुण नही है । शिक्षा अध्ययन एव सस्कारो से उसका विकास होता है । औदात्य महान आत्मा की प्रतिध्वनि है । (Sublimity is the echo of a great soul) कवि का महान विचारो का, और श्रेष्ठ व्यक्तित्व का होना उदात्तता मे अपक्षित है । हय तुच्छ सकीण विचार और अविकसित व्यक्तित्व उदात्तता को व्यक्त नही कर सकगा । कुएँ म पानी नही होगा तो वह बाल्टी में भी न आ सकगा । इसी प्रकार कवि के भाव विचार कल्पना, विषय बुद्धि ज्ञान ग्रहण उदात्त न हो तो उसकी अभिव्यक्ति शली और अभिव्यक्ति कति भी उदात्त नही हो सकती । गरिमामय विचार युक्त श्रेष्ठ कृति का प्रभाव पाठक पर पडे बिना नही रहता । होमर और ईलियड

इसके विपरीत पड़ जाता है। रचना में सब सामग्री प्रचुर प्रवेग और स्थिरता के समान लेकर होनी चाहिये।

(२) आवेग की तीव्रता—लोंजाइनस से पूर्व विचारकों ने इनको उदात्तता के लिये आवश्यक न माना था। लोंजाइनस भी प्रत्येक भाव वेग को उदात्त नहीं मानता। अतः करुणाजनक को भावों? हेय भावों से अलग होकर उन्माद [illegible] अनुभव उत्साह से [illegible] आवेगों का वर्णन किया जाय जिनके कारण [illegible] की आत्मा आनन्द से अनुप्राणित होकर हम अपने से ऊपर उठें। उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा है कि मेरे विचार में जो आवेग उन्माद के साथ के उद्दाम वेग में फूट पड़ता है और एक प्रकार से रचना के शब्द शब्द को विशेष से परिपूर्ण कर देता है उसके समान [illegible] उदात्त स्वर में ऐसा औदात्य आता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः आवेग उदात्तता का प्रमुख तत्त्व है और उसके अभाव में उदात्तता का निर्माण नहीं हो सकता। आवेग दो प्रकार के हैं—(१) भव्य (२) हेय। भव्य आवेग उदात्तकारी है और हेय—दया भय शोक हैं। भव्य आवेग व्यक्ति को ऊपर उठाते हैं और हीनतर आत्मा में हीनवृत्तियों का प्रभाव होता है।

विचार गरिमा और भावावेग की तीव्रता तो उदात्त के आन्तर तत्त्व हैं अब हम बाह्य तत्त्वों पर विचार करें—

(३) अलंकार योजना—अलंकारों का प्रयोग समुचित रीति से होना आवश्यक है। अलंकार साध्य नहीं है साधन हैं। स्वाभाविक सहज रूप में अलंकार योजना होनी चाहिये। अलंकारों का अनावश्यक, अस्वाभाविक सदम्भ और प्रयोग कवि के कवित्व को [illegible] जाता है और अपनी महत्ता खो देते हैं। अलंकार योजना में इतनी चतुरता बरतनी चाहिये कि श्रोता या पाठक को उसका पता न चले। लोंजाइनस उदात्तता के आन्तरिक गुण में अपना पृथक्त्व छिपाये हुए अलंकारों का मनोवैज्ञानिक स्तर प्रभाव [illegible] करता है। लोंजाइनस ने [illegible] विपर्यय प्रश्न [illegible] [illegible] रूपक उपमा आदि अलंकारों के प्रमुख भेद माने हैं।

(४) उत्कृष्ट भाषा—भाषा का आधार शब्द चयन है। उचित शब्द विचारों को प्रकाशमान कर देते हैं। लोंजाइनस ने शब्द चयन के सम्बन्ध में लिखा है—उचित एवं प्रभावकारी शब्द चयन श्रोता को आश्चर्यजनक रूप से आकर्षित करके मोह लेता है और यह शब्द चयन भव्यता सौन्दर्य परिपक्वता गरिमा, ओज शक्ति तथा अन्य गुणों की पूर्णता लाकर मृत वस्तुओं में एक प्रकार का जीवित स्वर फूंक देता है। (On the sublime-xxx-1) गरिमामय भाषा का प्रयोग अवसर के अनुकूल हो क्योंकि छोटी मोटी बातों

को भारी भरकम बना देना किसी छोटे बालक के मुह पर पूरे आकार वाला मुखौटा लगा देने के समान है ।'

(५) श्रेष्ठ रचना विधान —रचना का प्राणतत्व सामजस्य (Harmony) है । उदात्त रचना के लिए यह आवश्यक और अनिवार्य है । हमारे शरीर मे अवयवो का सामजस्य और उचित स्थान पर उनके स्थित रहने से शरीर का सुन्दर आकार बनता है तथैव शैली के सभी तत्व एकत्र होकर प्रभावशाली होते हैं और इस प्रभावशाली सगठन से ही उदात्तता प्रस्फुटित होती है। रचना विधान मे शब्दो की क्रमिक योजना, उनके पारस्परिक समन्वय पर भी विचार किया गया है।' इसके अन्तर्गत शब्द विचारो, कार्य आदि का सुष्ठु सगुम्फन होता है।

औदात्य के बाधक तत्व या दोष —अत्यधिक सक्षिप्तता अभिव्यक्ति की क्षुद्रता शब्दाडम्बर भावाडम्बर बालेयता, (प्यूरिलिटी) असयत वाक्विस्तार, अनुचित विचार ग्राम्य पदो का प्रयोग असगत चमत्कार, भाषा की अव्यवस्था एव प्रवाह शून्यता, सगीत एव लय का आधिक्य आदि लोजाइनस ने उदात्तता के विरोधी तत्व माने हैं।

लोजाइनस ने बिम्ब को कल्पना से निर्मित माना है। अर्थात उनके मतानुसार कल्पना और बिम्ब एक ही है।

लोजाइनस के उदात्त तत्व का प्रभाव परवर्ती कवियो और आलोचको पर प्रभूत मात्रा मे पडा। बेन जानसन, मिल्टन, डिक्विसी कालरिज प्रभति में उनके स्कलो पर लोजाइनस की अनुगूज मिलती है। काट हीगेल क्रिट न भी सौन्दर्य और औदात्य की चर्चा की है। लोजाइनस का उदात्तता के सम्बन्ध मे विश्लेषण सूक्ष्म एव व्यापक है। इसी महत्ता के कारण स्काट जेम्स न उन्हें प्रथम स्वच्छन्दतावादी आलोचक कहा है तो एटकिन्स न अभिजात्यवादी कहा है। उनका उदात्त तत्व अमर है और काव्यकला का मानदण्ड है।

अभिव्यजनावाद (Expressionism)

बेने दतो क्रोचे इटली का गभीर दार्शनिक विचारक था (१८६६ १९५२) जिसने साहित्य मे अभिव्यजनावाद सिद्धात का प्रतिपादन किया। क्रोचे आत रिक व्यापारो तथा अनुभूतियो को अधिक महत्त्व देता था। उसने पश्चिमी कला साहित्य, अर्थशास्त्र तथा दर्शन का गहरा अध्ययन किया था। क्रोचे ने साहित्य जगत का अभिव्यजनावाद के रूप मे बडी देन दी है।

क्रोचे के विचार प्रसिद्ध दार्शनशास्त्री हीगल से प्रभावित थे। किन्तु हीगेल के कला के सम्बन्ध के विचार ज्यो के त्यो क्रोचे ने स्वीकार नहीं किये।

क्रोचे न मानव आत्मा की दो क्रियायें मानी हैं—

(१) सद्धांतिक

(२) व्यावहारिक

सद्धांतिक क्रिया से मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और व्यावहारिक क्रिया से जीवन में व्यवहार करता है। सैद्धांतिक की दो क्रियायें होती हैं— (१) प्रातिभक्रिया या स्वयं प्रकाश ज्ञान सहज, सहानुभूत (intuitive) (२) बौद्धिक या प्रमा द्वारा प्राप्त ज्ञान (intellectual) प्रथम का सम्बन्ध व्यक्तियों तथा विशेष पदार्थों से है। यही सहज ज्ञान कला द्वारा कला का उत्पादक है। द्वितीय का सम्बन्ध जातिवाचक प्रत्ययों या धारणाओं से है। इसके द्वारा दर्शन विज्ञान आदि का निर्माण होता है। व्यावहारिक क्रियाएँ दो प्रकार की हैं–(१) उपयोगी या आर्थिक (useful or economic) (२) नैतिक (moral)। क्रोचे के अनुसार सहजज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र है। प्रातिभक्रिया स्वयं में पूर्ण स्वतन्त्र तथा अन्य क्रियाओं से निरपेक्ष है। प्रत्यय या विचार बौद्धिक व्यापार है। सहजज्ञान एक अलौकिक शक्ति है जो प्राकृतिक दृश्यों को अपनाकर उन्हें आकार प्रदान करती है यही अभिव्यक्ति है। परन्तु यह अभिव्यक्ति मन में होती है। बौद्धिक क्रियाएँ व्यावहारिक क्रियाओं पर निर्भर नहीं हैं परन्तु व्यावहारिक क्रियायें सद्धांतिक क्रियाओं पर निर्भर हैं। उनके मूल में मनुष्य की इच्छा (Will) होती है। इसके लिए वस्तुओं का सहजज्ञान एवं बौद्धिक ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक वस्तु की प्रकृति का बोध हमें नहीं होता तब तक हम उसकी आकांक्षा नहीं करते। उसी प्रकार आर्थिक क्रिया नैतिक क्रिया से स्वतंत्र होती है। नैतिक क्रिया आर्थिक क्रिया पर अवलंबित होती है।

क्रोचे ज्ञान के दो भेद करता है–सहज और तार्किक। प्रथम कल्पना द्वारा संपादित ज्ञान दूसरा बुद्धि द्वारा संपादित ज्ञान है। प्रथम व्यक्तिगत अथवा वैयक्तिक होता है दूसरा समष्टिगत या सार्वदेशिक (यूनिवर्सल)। पहले प्रकार के ज्ञान द्वारा बिम्बों की निर्मिति होती है तो दूसरे के द्वारा उनके विचार या प्रत्यय निर्मित होते हैं।

क्रोचे प्रातिभ या सहजज्ञान को प्रमात्मक ज्ञान की आवश्यकता नहीं मानता। सहजज्ञान स्वतन्त्र और पूर्ण है। उसके पास अपनी दृष्टि होती है। कई बार सहजानुभूति में ही बौद्धिक ज्ञान समन्वित हो जाता है जैसे सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश। चित्र में अंकित चाँदनी को देखकर कल्पनात्मक अनुभूति होती है, कोई विचार मन में नहीं उठता। क्रोचे के अनुसार अधिकांश सहज ज्ञान के समय विचारों का अस्तित्व नहीं रहता।

क्रोचे दो प्रकार की अनुभूतियाँ मानता है। (१) संवेदनात्मक (प्रत्यक्ष)

(२) सहज या स्वय प्रकाश्य (अप्रत्यक्ष कल्पनात्मक) । संवेदनात्मक अनुभूति का निर्माण इद्रियो के सपर्क मे आने से होता है दूसरी का आत्मा से । आगे क्रोचे ने इद्रियानुभूति को भी सहजानुभूति माना है ।

क्रोचे सहजज्ञान को ही अभिव्यजना मानता है । अभिव्यजना का व्यापक अर्थ में प्रयोग करें तो अनाब्दिक अभिव्यजनाएँ भी होती हैं, मानना पडेगा । जैसे रेखा रग और ध्वनि की अनाब्दिक अभिव्यजनाएँ होती हैं । व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति शब्द चित्र, सगीत के द्वारा करता है वह अभिव्यक्ति सहजानुभूति का एक अभिन्न अग है । और अभिव्यजना ही काव्य या कला है ।

वस्तुत अभिव्यजना सदैव आतरिक होती है । किसी वस्तु को चित्रित करने के पूर्व चित्रकार अपने मन में उसे प्रकाशित कर लेता है । यह अभिव्यजना सुदर एव आत्मिक होती हैं । ऐंजिलो ने कहा या कि कलाकार हाथ से नही मस्तिष्क से चित्र निर्माण करता है । क्रोचे अभिव्यजना को आत्मिक क्रिया मानकर कलावस्तु के केवल एक सही ढग से प्रस्तुत करने के सम्बन्ध मे चर्चा करते हैं । उन्होने लिखा है कि कला का कार्य आतरिक है और जो बाह्य है वह कला नही है । सवेदनो के आत्मानुभूत होते ही कला का कार्य समाप्त हो जाता है । स्कॉटजम्स ने लिखा है कि क्रोचे का कवि कोई भाषा नही बोलता । अधिक से अधिक उसका कथन आत्मगत होता है ।

कला और सहानुभूति—

क्रोचे के अनुसार कला या अभिव्यजना अखण्ड अविभाज्य और एक तान होती है उसे अध्यायों या सर्गों या विविध विधाओं या भेदों में विभाजित नही किया जा सकता । कलात्मक सौंदर्य की श्रेणियाँ नही होती । सफल अभिव्यजना सुन्दर होती ही है । अगर वह सुन्दर नहीं है तो वह अभिव्यजना भी नही है । कला व्यावहारिक मूल्यो से निरपेक्ष है । यानी कला को लेकर नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता । कला के बाह्य रूप में उपयोगिता और नैतिकता प्रविष्ट करती है इसीलिये आतरिक अभिव्यजना अधिक श्रेष्ठ है । अभिव्यजना कवि मानस मे घटित होती है यही सहजानुभूति है, यही कला है सौंदर्य है कल्पना है । क्रोचे सामान्य व्यक्ति और कलाकार में सहजानुभूति मानता है । दोनों की सहजानुभूति मे अतर केवल मात्रा का होता है । जिस प्रकार जीवशास्त्री आदमी या मेंढक का शरीर—दोनो महत्वपूर्ण हैं उसी प्रकार सहजानुभूति चाहे कलाकार की हो या, सामान्य की दोनों का महत्व होता है ।

विषय और शैली के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि फिल्टर से पानी छानने पर किंचित अतर के साथ वही पुन प्रकट होता है ठीक वैसे ही अभिव्यक्त

विचार (चिन्तना) [illegible] है। [illegible]
[illegible] और [illegible] सामाजिकता को (संस्कृति) [illegible] कलाकार [illegible]।

आधार—अभिव्यंजनावाद पर विद्वानों ने अनेक [illegible] हैं—

(१) [illegible] कलाकार [illegible] ?

(२) [illegible] को भावना से [illegible] मशीन बना दिया है।

(३) भाव और [illegible] की [illegible]।

(४) [illegible] [illegible] उत्पन्न कर दी।

(५) [illegible] अभिव्यंजना का [illegible] सम्बन्ध है ? [illegible] इन आक्षेपों के उत्तर दिये हैं।

मूल्यांकन

क्रोचे के समकालीन अनेक विद्वानों ने उनकी मान्यता को [illegible] दृष्टि से अभिव्यंजनावाद अनुभूतियों है और सहजानुभूति [illegible] का सर्वव्यापी है। [illegible] आधुनिक साहित्य पर [illegible] पर प्रभाव पड़ा है। डा० रामचन्द्र शुक्ल ने उन [illegible] पर प्रभाव माना। वक्रोक्ति और अभिव्यंजना [illegible] कुछ [illegible] पर [illegible] गया है। यहाँ दूसरा वृत्ति अनावश्यक होगा। आधुनिक [illegible] प्रभाव को प्रभाव [illegible] आदि भाव के [illegible] से प्रभावित है। उन्होंने कला को [illegible] सामाजिक दायित्व से निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की।

क्रोचे समानता के आधार पर [illegible] को तथा [illegible] को अपरि[illegible] कर देता है तथा विषय और शैली को अभिन्न बताता है। इस प्रकार के उनके विवेचन में दोष आ गए हैं।

यथार्थवाद (Realism)

स्वच्छन्दता की प्रतिक्रिया रूप में 'यथार्थवाद' यूरोप में प्रचलित हुआ। १७८९ ई० की फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने प्रस्थापित और प्रचलित मूल्यों को अप्रतिष्ठित कर दिया। बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध जो घृणा फ्रेंच राज्यक्रान्ति द्वारा निर्माण हुई उसके द्वारा सामाजिक और कलात्मक सौन्दर्य विषयक कुछ गलतियाँ हुई। यथार्थवाद कलाकारों को या लेखकों को समाजाभिमुख बनाने का प्रयास करता है। आधुनिक यथार्थवाद का प्रणेता ह्यूमन कॉमेडी इस प्रदीर्घ उपन्यास का लेखक बालज़ाक (१७९९-१८५०) जाना जाता है। जोला की अपेक्षा भी बाल्ज़ाक को यथार्थवादी लेखक के रूप में एंगल्स् अधिक महत्ता प्रदान करता

है। बाल्जॉक अनेक बातों का यथार्थ सविस्तार वर्णन करने में बड़ा कुशल था उसके अनुसार मनुष्य समाज की संतान है। अर्थात सामाजिक परिस्थिति के अनुसार ही मनुष्य स्वभाव अथवा मानवी आचार बन जाते हैं। इसीलिए मनुष्य के परिवेश का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। बाल्जाक के यथार्थवाद का प्रचार करने का श्रेय फ्रेंच उपन्यासकार गुस्ताव फ्लॉबेर (१८२१–१८८०) को है।

यथार्थवादी कवि अपने अनुभव और कल्पना में आए जीवन का वर्णन विभिन्न छवियों और बिम्बों में प्रस्तुत करता है। यथार्थवादी कवियों में वर्डस्वर्थ, चर्नीशेव्स्की जेम्स कारस स्टीफन स्पेंडर आदि हैं। इन कवियों ने वास्तविक जीवन को महत्त्व दिया है। यथार्थवाद में केवल भावात्मक सौन्दर्य अथवा कल्पना की रंगीन उड़ानों का कभी महत्त्व नहीं रहता। उसमें जीवन की सहजता के अतिरिक्त उसकी कुरूपता और संघर्ष की भी यथानुरूप स्थिति रहती है। साहित्य में जीवन के यथार्थ का अपूर्ण चित्रण नहीं होना चाहिए अन्यथा उसमें वर्णित विषय समाज को अवनति की ओर ले जाने वाले सिद्ध होंगे। यथार्थवादी कविता के वस्तु पक्ष पर अधिक बल देते हैं। यथार्थवाद का मूलमंत्र था सत्य के प्रति सजग निष्ठा। प्रत्येक तथ्य को यथातथ्य रूप में बिना वैयक्तिक प्रतिक्रिया और नग्नी विरहित रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। कल्पना भावुकता, कलात्मकता, रूपविधान आदर्श अभिजात आदर्श पात्र आदर्श जीवन चित्रण, आदर्शवादी नैतिकता कलात्मक सौन्दर्य की यथार्थवाद में प्रायः उपेक्षा हो जाती है। विषय का चयन भी समसामयिक जीवन से होता है विशेषरूप में मजदूर वर्ग अथवा दलित वर्ग को अधिक महत्ता दी जाती है। १८५७ ई० में प्रकाशित फ्लॉबेर का 'मादाम बावारी' उपन्यास यथार्थवाद की प्रतिनिधि रचना माना गया। रूस में तुर्गनेव दस्ताएवस्की गोर्की टालस्टाय आदि यथार्थवादी लेखक थे। फ्रांस में यथार्थवाद की घोर परिणति प्रकृतिवाद में होकर दुरान्ती जैसे लेखकों ने पाप कर्म और कुरूपता का ही चित्रण किया, किन्तु रूस में गोर्की आदि साहित्यकारों ने यथार्थवाद को यथाशीघ्र पूर्णतया नैतिकवादी

यथार्थवाद की प्रवृत्तियों का श्रेय विज्ञान और बौद्धिक युग को है जिससे जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि जगी। इसी कारण जीवन के पहलू को निकटता से देखने की प्रवृत्ति जागृत हुई। और मार्क्सवाद को भी उसमें स्थान मिला।

यथार्थवादी साहित्यकार जीवन क्या है ? का उत्तर देता है। यथार्थवाद में वर्तमान का चित्रण अतीत और भविष्य की अपेक्षा अधिक होता है और जीवन की कटुताओं, विषमताओं और असंगतियों पर प्रकाश डाला जाता है।

यथार्थवाद मे लेखक की वयक्तिकता पर बल दिया जाता है और शैली मे तीव्रता, सहजता, व्यग्यात्मकता होती है ।

भारतीय साहित्य म महाभारत, कामसूत्र, आदि मे यथार्थवाद के सकेत मिलते हैं । भारतीय प्राचीन साहित्य विशेषतया आदर्शवादी रहा है । आधुनिक युग म मार्क्सवाद और फ्रायड के प्रभाव से यथार्थवादी साहित्य का सृजन हिन्दी मे हुआ, जो प्रगतिवाद का अभिन्न अग बना माना जाता है ।

अतियथार्थवाद (Sur realism)

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोप मे कला के क्षेत्र म अनेक प्रणालियों का उदय हुआ । फ्रास मे क्युबिज्म, इटली म फ्युचरिज्म ज्युरिक में दादाइज्म, फ्रास और जमनी मे सुर्रिअलिज्म, रूस मे सुप्रीमटिज्म हालैंड मे निओप्लस्टिज्म आदि प्रणालियो का जन्म हुआ । आधुनिक युग मे इनमे सुर्रिअलिज्म का अधिक बोलबाला हो गया था । इसका प्रथम मनिफेस्टो १९२४ म प्रकाशित हुआ । परन्तु इसके पूर्व दस पद्रह बरस यह वाद अपने पर जमा रहा था ।

सुसवादित्व, शुद्धता, स्थिरता सतोषप्रदानता और आनन्द देना कला की इन विशेषताओ को सुर्रिअॅलिस्टो ने बूर्ज्वा कहकर त्यागने का उपदेश दिया और मन को उद्विग्न, प्रक्षोभ करने वाली, अशुद्ध, पणास्पद (impuse) कृतियो का समथन किया । हबर रीड इसका प्रमुख प्रचारक था । दुर्सेय इसका प्रवतक था । यह चित्रकार था । क्युबिरिस्टो ने भी इस आदोलन मे हाथ बटाया । नीति कल्पना, कलात्मक सौंदय, उच्चाभिरुचि इन बातो का ध्वस करने का डाडाइज्म (Dadaism) का ध्येय था । सुर्रिअॅलिज्म वस्तुत डाडाइज्म की एक शाखा है सुसगति तक शुद्धता का कला म अभाव होना चाहिए ऐसा मत इन लोगो का था । कला की अभिव्यक्ति बिना सस्कार किए हुए अपने सहज रूप मे होनी चाहिए ऐसा आग्रह इनका था । औचित्य, कलात्मक सुसगति का बधन भावाभिव्यक्ति का हानिकारक है । विवेक का बधन नही होना चाहिए यह प्रमुख बात है । इस सम्बन्ध मे–जेम्स मरिलेन के शब्द हैं–Absence of any control exercised by reasons आतरिक स्फूर्ति अथवा प्रेरणा पर अतियथायवादियो ने बल दिया है । आद्रब्रेता ने इसको तात्विक प्रतिष्ठा प्रदान की । ब्रेतों ने कलानिर्मिति प्रक्रिया की फायड की पद्धति के आधार पर मूल्याकन करके कला क्षेत्र म 'अनिच्छाविहितत्व (Aesthetic automatism) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । यह सिद्धान्त सुर्रिअॅलिज्म का प्राणतत्त्व है । सुसवादित्व (harmony) लयतत्व (rhythm) को गौण स्थान दिया गया । कलाकृति की निर्मिति की दृष्टि से इन बातो को अनावश्यक माना गया ।

कलाकृति की शक्ति अन्तमन के व्यापारों के स्तरों से निर्माण होती है अतएव चित्र, काव्य आदि कलाएँ अतमन के आशयपूण प्रतीको को जितनी मात्रा में अभिव्यक्त करेंगी, उतनी वे प्रभावी रहेंगी। अनिच्छाविहितत्व (automatism) पर अधिक बल देना अतियथार्थवादियो की सबस बडी गलती थी ऐसा हबर्ट रीड ने कहा है। कारण बुद्धिस्वातंत्र्य का परित्याग और अकलात्मक शास्त्रीय प्रक्रिया (अनिच्छा विहितत्व की) दोना नवनिर्मिति कला मे बाधाएँ पहुँचाती हैं। क्लासिज्म पर प्रहार करना अतियथार्थवादियो की नीति थी। क्लासिज्म को नियमा-बधनो का दमनवाद और डिक्टेटरशिप मान कर उस पर अति यथार्थवादियो ने अनेक आक्षेप उठाये। एक दृष्टि से सुररिअलिज्म रोमांटिसिज्म तत्त्वो का ही पुनरुच्चार है। सुररिअलिज्म विवेक और भाव दोनो के विरुद्ध है। (anti rational anti emotional) इसके मूल म भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान के तत्त्व हैं। हेगेल के दशन का कुछ विचारो पर इन्होने अपनी प्रणाली स्थापित की है। परम्परागत मूल्यो का ध्वस यह उनका नारा है। क्लासिकल और कॅपिटलिस्टिक मूल्यो को वे नही मानत। कलात्मक मूल्यो का सम्बध वस्तु स न होकर व्यक्ति स हाता है।

हबर्ट रीड क अनुसार काव की प्रेरणा और स्वप्नसृष्टि दोना समान है। जे० बी० प्रीस्टली ने इस पथ की जून १९३६ मे कटु आलोचना करके इसका तिरस्कारणीय ठहराया। इसका उत्तर देते हुए रीड ने लिखा है कि सुररिअलिस्ट प्रचलित जजर सडाध कद्र नाति कल्पनाओ का विरोध करते हैं। उनकी नीति कल्पना स्वतन्त्रता और प्रेम पर अधिष्ठित है।

सुररिअलिज्म म बुद्धितत्त्व की अपेक्षा कल्पना तत्त्व और कलात्मक सस्कारित अभिव्यक्ति की अपेक्षा सहजाभिव्यक्ति का अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रथम महायुद्ध की बिभीषिका स त्रस्त हो कतिपय कलाकार वास्त विकता से पूण सम्बध विच्छेद कर निराले जगत क लिए माग ढूढ़न लग थ। अतियथार्थवादी वास्तविकता से ऊब गय थे, उनकी समस्त आस्थायें भग्न हो चुकी थी। अतियथार्थवाद म चित्रकारो और लेखको को अपनी मानसिक रुग्णता की अभिव्यक्ति समव हो सकी। अतियथार्थवाद आदोलन चित्रकला क माध्यम स साहित्य मे आया। अतियथार्थवादी का ससार, कपोल कल्पना, परियो की कहानिया लोककथाओ और अवदानो (Myths) का है जो अपनी सामग्री अधचेतन क स्मृतिचिह्नो और बिम्बो से प्राप्त करते हैं। यहाँ स्मरण है कि पागल की कल्पना निष्क्रिय हाती है और अतियथार्थवादियो की सक्रिय। अतियथार्थवादी अपनी समस्त कला-सामग्री अधचेतन मन स प्राप्त करता है। अत उसके चित्रों म उसक मन की असगत कल्पनाएँ, स्वप्न, दिवास्वप्न और

के टेसी की अभिव्यक्ति होती है। धूमिल अस्पष्ट और अदृश्य मानसिक जगत को व्यक्त करने के लिए अतियथार्थवादी प्रतीकों का सहारा लेते हैं। इनका विश्वास है कि कला की सृष्टि स्वप्न की भाँति बिना किसी नियंत्रण और समस्त नैतिक और सौंदर्य सम्बन्धी मूल्यों की सीमा के बाहर होना चाहिए। अतियथार्थवादी अपनी प्रेरणा बाह्य जगत से न लेकर अन्तर के स्वप्नजगत् से लेते हैं। एफ० एल० लूकस के अनुसार अतियथार्थवाद रोमांटिसिज्म का ह्रासोन्मुख रूप है। अतियथार्थवाद का प्रसार फ्रांस, इंग्लैंड तथा अमरिका आदि देशों में हुआ।

अतियथार्थवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि में फ्रायड बर्गसों हीगल और मार्क्स के दर्शनशास्त्र के तत्त्व मिलते हैं। हिन्दी में अज्ञेय आदि हिन्दी के प्रयोगशील कवियों ने इसको सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है।

आदर्शवाद (Idealism)

आदर्शवादी साहित्य जीवन में क्या होना चाहिए प्रश्न का उत्तर देता है। देश राष्ट्र और समाज के सम्मुख भावी चरित्र गुणों नैतिकता आदि का साहित्य के माध्यम से आदर्श रखा जाता है। आदर्शवादी साहित्य विशेषतया देश विशेष की संस्कृति पर आधारित रहता है और देश विशेष की विभिन्न संस्कृति के कारण प्रत्येक देश के आदर्श में भिन्नता आती है। अतएव दो देशों के आदर्शों में भिन्नता आती है। उदाहरणार्थ भारत पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति को अधिक महत्ता प्रदान करता है अतएव यहाँ के आदर्श पाश्चात्य राष्ट्रों से भिन्न हो गए हैं। भारतीय साहित्य का लक्ष्य अथ–राम के साथ धर्म और मोक्ष भी रहा है। चतुर्वर्ग की फल प्राप्ति जीवन का ही नहीं साहित्य का भी लक्ष्य रहा है। आदर्शवादी कृति में कल्पना और अनुभूति में समन्वय रहता है। महादेवी ने लिखा है कि आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पंदन से न भर दिया जाय। एटकिंस के अनुसार कवि अपने ज्ञान और आदर्शवादी चेतना के बल पर सांसारिक सत्य का उचित चिंतन के पश्चात भव्य रूप में प्रस्तुत करता है।

आदर्शवादी लेखक अतीत या वर्तमान जीवन में से महान् या भव्य चरित्रों का चित्रण करता है। सामान्य जनों का चित्रण उसके लिए गहणीय होता है। जीवन की कुरूपता कटुता अमंगल वीभत्स पक्ष वह कभी चित्रित नहीं करता। वह तो उच्चता और महत् का प्रचारक होता है। सुमंगलता उदात्तता सद्गुण सदाचार औदार्य क्षमा दया प्रेम, शांति नम्रता भव्य संस्कृति को चित्रित

करना उसका ध्येय होता है। धीरोदात्त, श्रीराम जैसे पात्रों के चित्रण द्वारा समाज के सम्मुख वह उदात्त ध्येय, उदात्त तत्त्व रखता है। सत् पक्ष का असत् पक्ष पर विजय दिखलाना उसके लिए अनिवार्य तत्त्व बन जाता है जिससे लेखन में एक प्रकार की कृत्रिमता आती है। परन्तु यह अस्वाभाविकता उदात्त भाषा शैली के प्रवाह मे क्वचित खटकती नहीं।

आदर्शवादी साहित्य केवल कल्पना जगत में (utopia) खोया रहेगा तो वह नितान्त अव्यावहारिक और असम्भवनीय बन जायगा। स्वप्निल और कोरे आदर्शवाद के स्थान पर व्यावहारिक आदर्शवाद वांछनीय है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

अव्यावहारिक आदर्शवाद और नग्न कुरुचिपूर्ण यथार्थवाद से बचने के लिए प्रेमचन्दजी ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का प्रचलन किया। इसमें आदर्शवाद और यथार्थवाद के अति से बचने का प्रयत्न कर दोनों का समन्वय प्रस्तुत करने की कोशिश की है। नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती। डा० नगेन्द्र के अनुसार 'आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। प्रेमचन्द का आदर्शवाद का यही रूप है वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है।"

हमारे समस्त प्राचीन साहित्य में आदर्शवाद की महान् परम्परा मिलती है। वाल्मीकि कालिदास, आदि आदर्शवादी लेखक हैं। आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद आदर्शवादी साहित्य-परम्परा में रखे जाते हैं।

अधिकांश प्राचीन और मध्ययुगीन पाश्चात्य काव्य भी आदर्शवादी रहा है।

अभिजातवाद-शास्त्रवाद (Classicism)

प्राचीन काल में यूनान की शिक्षा संस्थाओं में ग्रीक और रोमन की श्रेष्ठ कलाकृतियों का अध्ययन आवश्यक समझा जाता था। उन्हें क्लासिकस कहते थे। क्लासिक के विभिन्न अर्थ कोशों में दिए गए हैं १ साहित्य अथवा कला क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट आदर्श का अनुसरण करने वाली कृति। २ शुद्ध उच्च अभिरुचि का, सुसंस्कृत आदि।

अभिजात की विशेषतायें निम्नलिखित हैं—१ प्रसाद २ कलात्मक संयम ३ कलाकृति की एकात्मकता आदि। ये विशेषतायें जिन कृतियों में विद्यमान रहेंगी उनको क्लासिकल संबोधित किया जा सकता है। आधुनिक साहित्य कृति

मे यदि सरलता के साथ गहन गम्भीरता नियम बंधना का पालन रचना म सुसगति और अल्प साधनो द्वारा अधिक प्रभाव उत्पन्न करने की सामर्थ्य को क्लासिकल कहा जा सकता है।

यूनानी प्राचीन साहित्य उत्कृष्ट और उच्च है। उनकी कलाकृतियाँ श्रेष्ठ सुन्दर थी और शिल्प उत्तम था। अखिल मानवजाति को इनका आकर्षण है।

ग्रीक और रोमन कृतियों का अध्ययन करके यूरोप म रिनसां (Renaissance) के पश्चात अभिजात का युग निर्माण हुआ। इग्लैंड फ्रांस म इसका समर्थन किया गया। मध्य युग म फ्रांस के कवि रोन्सार ने कल्पनात्मक प्रतिभा को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का प्रचार किया। इससे काव्य जगत् म जो अव्यवस्था फल गई उसे दूर करने का काय बुअलो रापें और ला बास्यू ने किया। इस युग म ज्ञान, विद्वत्ता तथा नियमो के प्रति आस्था थी। अत साहित्य निर्माण के नियम बने। अभिजातवादी यह मानते थे कि उनके द्वारा बनाए हुए नियम शाश्वत, सार्वकालिक और सार्वदेशिक हैं। ये नियम अनिवार्य हैं और उनका पालन होना चाहिए। प्राचीन सर्वश्रेष्ठ कृतियो के आधार पर नवकृतियो का सजन होना चाहिए। प्राचीन नियमो का उल्लंघन करना संस्कृति को चुनौती देना है। कृतियो म विशुद्धता, बाह्य भव्यता आदि तत्त्वो को आवश्यक माना गया। इस युग म भावात्मक तथा प्रायोगिक प्रयत्नो को सदेह की दृष्टि से देखा गया उन्हें अव्यवस्थित मन की उडान माना गया।

बुअलो को नवशास्त्रवाद का (Neo-classicism) प्रणेता माना जाता है। उसके द्वारा स्वीकृत साहित्य के मानदण्डो का प्रभाव फ्रांस एव इग्लैंड पर रहा। बुअलो ने त्रासदी महाकाव्य आदि साहित्य के रूपो के जो नियम बनाए थे, उनका आधार प्राचीन ग्रीक विद्वानो—होमर वर्जिल थियाक्रिटस ओविड आदि की कृतियाँ थी। वस्तुत होरेस और अरिस्टॉटल के सिद्धान्तो का सुव्यवस्थित ढग से पुनर्जागरण इन समीक्षको ने किया। अरस्तू आदि के सिद्धान्त के आधार पर जो राइमर—(अग्रेजी नवशास्त्रवादी) द्वारा नियम बनाए गए वे तक और अनुभव पर आधारित थे। नवशास्त्रवादियो का लक्ष्य था प्रकृति का अनुकरण। उन्होने अपनी कृतियो म सार्वभौम दिक्कालातीत—चरित्रो के चित्रण की बात उठायी और औचित्य पर बल दिया। कुरूपता भीषणता नीचता को वर्जनीय माना। लोभ पर निंदा गरीबो और नीच का वर्णन न करने का कवियो को उन्होने आदेश दिया था। इससे आदर्शवाद का जन्म हुआ। कलाकार की अभिरुचि सौन्दर्य दृष्टिकोण आदि तत्त्वो पर बल दिया गया और परिणामस्वरूप काव्यगत न्याय (Poetic Justice) सिद्धान्त को भी अपनाया। नवशास्त्रवादियो ने काव्य का प्रयोजन आनन्द प्रदान करना,

और नतिक उपयुक्तता माना । नीति-उपदेश पर इन्होंने बल दिया । कवि की प्रतिभा, प्रेरणा, कलात्मकता ज्ञान और सयम का उन्होंने समर्थन किया । इन नियमो का एक बुरा फल यह हुआ कि महान् कलाकारो की प्रतिभा और मौलिकता को आघात पहुँचा ।

इलियट निर्वेयक्तिक और वस्तुपरक दृष्टिकोण पर बल देना, तर्क बुद्धिवाद का आग्रह आदि अभिजातवादियो के सिद्धान्तो से मिलती जुलती बातें हैं।

स्वच्छन्दतावाद (Romanticism)

कोई भी महान परम्परा चिरकाल तक जीवित नहीं रहती । उसमें दोष प्रवेश करते हैं और वह ह्रासोन्मुख होने लगती है । उन्नीसवी शती मे पाश्चात्य साहित्य मे नूतन प्रवृत्तियो न प्रवेश कर अभिजात्य नियमों और नीतियो क विरुद्ध विद्रोह किया । अरस्तू होरेस, लोजाइनस की स्थापनाओ को नहीं माना और प्रकृति को नया अर्थ प्रदान किया । इस धारा का १७८९ ई० की फ्रांसीसी राज्य क्रांति से गहरा सम्बन्ध है । इस क्रांति ने यूरोप के प्राचीन मूल्यो म युगान्तर उपस्थित किया सस्कृति मे परिवर्तन कर डाला और नई जीवन दृष्टि प्रदान की । अन्य क्षेत्रो की भाँति साहित्य के मानदण्डों म भी उसन परिवर्तन लाया । रूसो इस विचारधारा का प्रवर्तक था । उसने मानव स्वातन्त्र्य की घोषणा करते हुए लिखा— man is born free but is found every where in chains '

अभिजात्य नियमो के कारण साहित्य की आत्मा उपेक्षित रही और अलकरण छन्दगत नियम, शिल्प, प्रसाद कलात्मक एकात्मकता आदि काव्य के बाह्य तत्वो को अधिक महत्ता प्रदान की गई । इसी नियमबद्धता, अस्वाभाविकता और आडम्बरप्रियता के विरोध म स्वच्छन्दतावाद का जन्म हुआ । कल्पना, भावना, आवेग सहजवृत्ति स्वत स्फूर्ति साहित्य के आधार स्वीकृत किए गए । स्वच्छन्दतावादी आलोचको मे स अधिकाश व्यक्तिवादी थे । स्वच्छन्दतावादी धारा म वर्डस्वर्थ, कोलरिज शैली, ह्यूगो, सत ब्यव, रेनॉ, तन गेटे, आनल्ड टालस्टाय, पेटर आदि नाम उल्लेखनीय हैं और उनका योगदान विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

स्वच्छन्दतावादीधारा से साहित्य क एक नए अध्याय का प्रारम्भ हुआ । तर्क परम्परा नियम को बन्धन मानकर उन्हे तोड फेंकने के लिए वह सज्ज उठा । उसका नारा प्रकृति की ओर (Back to the nature) यह रहा । स्वच्छन्दतावाद को विभिन्न दृष्टिकोण स देखा गया । स्वच्छन्दतावाद को (१) बुद्धि के विरुद्ध भाव का विद्रोह (२) मध्ययुग का पुनर्जागरण (३) सुन्दरता

करती हैं ।

बिम्ववाद (Imagism)–बिम्बवाद के प्रवर्तक हैं टी०ई० ह्यूल्म (Hulme) ई० १९०८ में कवियों के क्लब में ह्यूल्म ने अपनी 'आटम' नामक और एडवर्ड स्टोवर ने 'इमेज' नामक अपनी कविता पढ़ी। इस आन्दोलन में कम्प बल, एलिंगटन एजरा पाउण्ड इलियट फ्लिंट आदि भी सम्मिलित हुए। इस आन्दोलन ने बिम्ब विधान को ही कवि कर्म घोषित किया।

बिम्ब का शाब्दिक अर्थ है–रूप चित्र, आकृति प्रतिमा आदि। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है 'मनोविज्ञान के अनुसार जब हम इंद्रियों के माध्यम से स्थूल जगत की विभिन्न वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं तो उनका प्रतिबिम्ब या चित्र हमारे मन में अंकित हो जाता है तथा ये प्रतिबिम्ब ही समय समय पर हमारी वासना संस्कार, स्मृति, भावना आदि को जागृत करने का कार्य करते हैं। ये बिम्ब एक प्रकार से संचित अनुभूतियों के रूप में हमारे अवचेतन मन में सदा विद्यमान रहते हैं, पर समय समय पर स्मृति एवं कल्पना की सहायता से पुनः हमारे चेतन स्तर पर उदित होकर हमें भली भाँति के बोध प्रदान करते हैं। कवि या कलाकार इन्हीं बिम्बों को अपनी रचना में प्रस्तुत करता है जिन्हें ग्रहण करते हुए पाठक या सामाजिक विषय का बोध प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में बिम्ब ऐंद्रिय अनुभूति का प्रतिबिम्ब है जो कि मन में अंकित हो जाता है।'

साहित्यिक दृष्टि से बिम्ब की अनेक परिभाषायें की गई हैं। सी० डी० लेविस के अनुसार– काव्यात्मक बिम्ब शब्दों के माध्यम से निर्मित एक ऐसा चित्र है जिसका किसी न किसी प्रकार के ऐंद्रिय गुण से सम्पर्क हो।

काव्यबिम्ब के पाँच लक्षण हैं। (१) चित्रात्मकता (२) शब्दारूपात्मकता (३) ऐंद्रियकता (४) भावोत्पादक (५) आरोपण का प्रभाव। चित्रात्मकता से मतलब है जिस प्रकार चित्र में वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है उसी प्रकार वस्तु का बिम्ब में प्रतिबिम्ब होता है जो पाठक के मन में उस वस्तु की अनुभूति जगा सके। शब्दरूपात्मकता से मतलब है शब्दों के द्वारा बिम्ब को चित्र की भाँति पेश करना, ऐंद्रियता का अर्थ है हमारी इंद्रियों को स्पर्श करने की शक्ति उसमें होनी चाहिए। आरोपण के प्रभाव का मतलब है उसका वस्तु से सीधा सम्बन्ध होना चाहिये।

काव्यबिम्ब के अंतर्गत कुछ पश्चिमी विचारकों ने प्रत्येक वस्तु को समेट लिया है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने ऐसा ही किया है। पश्चिम के विचारक बिम्ब का सम्बन्ध श्रवणेंद्रिय, घ्राणेन्द्रिय चक्षु इंद्रिय आदि–ऐंद्रिय अनुभूति से मानते हैं जो वाद का विषय बन जाता है। बिम्बों के घ्राणपरक, स्वादपरक,

ध्वनिपरक, वाक्षुप आदि भेद किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिमाशून्य बिम्ब, सरल बिम्ब, विशृंखलित बिम्ब, रूपकालंकार बिम्ब, आलंकारिक बिम्ब आदि किये जाते हैं। अर्थात ये भेद अनावश्यक हैं।

बिम्ब और अलंकार में पर्याप्त अंतर है। बिम्ब स्वभावोक्ति पर निभर करता है अलंकार अत्युक्ति कथन पर आधारित होता है। बिम्ब वस्तु के प्रत्यक्ष चित्रण द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है, अलंकार अप्रत्यक्ष की सहायता से प्रभाव उत्पन्न करता है।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार बिम्ब रचना की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं-अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण (२) साधारणीकरण (३) शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति।

बिम्ब का लक्ष्य है काव्य में सौन्दर्य करना। भावानुभूति से रहित बिम्ब प्रभाव एवं सौन्दर्य का सृजन नहीं कर पाता। शुष्क विचारों के अनुभूति और भावावेग शून्य बिम्ब काव्य रसास्वादन में बाधा पहुँचाते हैं। स्वप्रेरित, अनुभूति से युक्त एवं स्वाभाविक अवलंब बिम्ब काव्य में सौंदर्य लाते हैं। इसके विपरीत बिम्ब सी० डी० लेविस के अनुसार खण्डित, मृत और निरर्थक हैं।

रस और बिम्ब का घनिष्ट सम्बन्ध है। कालरिज, लविस आदि विभिन्न विद्वानों ने बिम्ब और भाव का सहयोग अनिवार्य माना है। डॉ० रामरजपाल द्विवेदी ने संक्षेप में बिम्बवाद के सिद्धान्त दिये हैं- (१) वस्तु का सीधा निरूपण (Direct Treatment) (२) केवल नितान्त आवश्यक शब्दों का प्रयोग (३) एस उचित शब्द का प्रयोग करना जो पाठक तक वस्तु का ठीक वही भाव पहुँचा दे जो लिखते समय लेखक के मन में उठा था।

बिम्ब निर्माण पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता है कि जीवन में यदि कोई कवि एक भी बिम्ब दे जाए तो बहुत बड़ी बात मानी जानी चाहिए।

बिम्ब और प्रतीक--बिम्ब और प्रतीक का गहरा अंतर स्पष्ट करते हुए डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है (१) बिम्ब में विषय वस्तु का बोध प्रत्यक्ष एवं अभिधा में प्रस्तुत किया जाता है, जबकि प्रतीक के मूल में लक्षणा एवं व्यंजना काम करती है। (२) बिम्ब में शब्दावली सदा एकार्थक होती है जबकि प्रतीक में शब्दों के कम से कम दो अर्थ होते हैं जैसे-मधुर मधुर मेरे दीपक जल मे, दीपक प्रतीक है-जिसके दो अर्थ हैं— दिया और जीवन'। (३) बिम्ब का लक्ष्य चित्रकला है जबकि प्रतीक वक्रता के द्वारा आकर्षण उत्पन्न करता है।

प्रतीकवाद (Symbolism)

सिम्बल (अंग्रेजी) शब्द का पर्यायवाची शब्द है प्रतीक। इसका अर्थ है

चिह्न, रूप, गुण, आकृति या रूप प्रतिरूप प्रतिलिपि अनेक आदि । हमारे सामाजिक जीवन में भी प्रतीक शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। राष्ट्रीय जीवन में राष्ट्रध्वज राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक बन जाता है तो मूर्ति धार्मिक क्षेत्र में परमात्मा का प्रतीक बन जाती है। इसी प्रकार साहित्य वस्तु और भावों की प्रभावी व्यंजना के लिए प्रतीकों का उपयोग होता है। अलंकार की तरह प्रतीक भी काव्य भाषा का एक कलात्मक साधन है—जैसे निराशा के लिए अंधकार और उषा को आशा का प्रतीक बनाया जाता है। प्रतीक-द्वारा सूक्ष्म अमूर्त अगोचर भाव-विचार और विषय वस्तु स्पष्ट मूर्त और प्रत्यक्ष हो जाते हैं। एक तरह से भाषा और शब्द भी प्रतीक हैं। कोई भी कौआ क्यों कहा जाता है? इसलिए कि हम लोगों ने इस पक्षी विशेष को यह नाम दे दिया। इस दृष्टि से भाषा का प्रत्येक शब्द प्रतीक कहना होगा किंतु भाषा और प्रतीक में अंतर है। भाषा तथा शब्द अभिव्यक्ति के एकमात्र साधन हैं जबकि प्रतीक भावनात्मक स्तर पर अलंकारात्मक ढंग से विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत करते हैं। प्रतीकों के बिना अभिव्यक्ति संभव है, भाषा और शब्द के बिना असंभव। अधिक प्रतीकों का अतिप्रयोग या अस्पष्ट रूप से प्रयोग भाव को दुर्बोध बना देता है। प्रतीकवादियों की अस्पष्टता से खिन्न है। उनका मत है कि इससे साहित्य का तीन चौथाई भी व नष्ट हो जाता है।

प्रतीक की परिभाषा इस प्रकार की जाती है। वस्तुतः किसी भी शब्द के प्रचलित अभिधेय अर्थ को ग्रहण करते हुए भी जब उसके द्वारा किसी अन्य अर्थ की सूचना दी जाय तो उसे प्रतीक कहते हैं।

वर्गीकरण—अनेक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने प्रतीकों को वर्गों में विभाजित करने का प्रयास किया है डब्लू० सी० योटस ने दो भेद किए हैं—(१) ध्वनि प्रतीक (२) विचार मूलक प्रतीक। सी० एम० बावरा ने तीन भेद किए हैं—(१) शब्द प्रतीक (२) वाक्य प्रतीक (३) प्रबंध प्रतीक डब्लू० एम० अरबन ने भी तीन भेद किए हैं—(१) स्वच्छंद (२) अवरूपात्मक (३) अंतर्दृष्टिपरक। डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने चार भेद किए हैं-(१) परम्परागत प्रतीक यथा हंस चातक आदि। (२) देवगत प्रतीक कल्पवृक्ष कामधेनु आदि। (३) व्यक्तिगत प्रतीक हीरे की खान आदि। (४) युगगत प्रतीक यथा विषयगत लाल निशान वीणा आदि।

प्रतीकवाद का आविर्भाव और विकास

डा० अरविन्द पांडेय ने लिखा है कि मनुष्य जीवन में विविध अनुभवों के

कारण शब्द एवं भाषा अपूर्ण प्रतीत होने लगती है। प्रत्येक गुण अनुभूति, भावना के लिए नाम अथवा शब्द की भाषा में योजना है। सामान्य रूप से जब इन नामों का चलना असंभव हो जाता है तब प्रतीकों का जन्म होता है।'

वस्तुतः प्रतीक अभिव्यक्ति का साधन है किन्तु उसे साध्य मानकर वाद के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय फ्रेंच कवियों को है। फ्रेंच कवि जीन मोरेआज ने १८८६ में अपनी पत्रिका फिगारो में प्रतीकवाद की घोषणा की। इसकी स्थापना प्रकृतिवाद (Naturalism) के विरोध में हुई। प्रकृतिवाद के विरोधी प्रतीकवादियों ने काव्य में आध्यात्मिकता अलंकारिता एवं अस्पष्ट अभिव्यक्ति पर बल दिया। प्रतीकवादियों ने तीन पीढ़ियाँ देखीं जो उसे परिपुष्ट कर रही थीं। पहली पीढ़ी के कवियों का जन्म १८४० ई० के आसपास हुआ। इसमें मलार्में वर्लेन कॉर्बियर लोत्रेआमां और रिम्बो उल्लेखनीय हैं। मलार्में को प्रतीकवाद सिद्धांतों का निर्माता कहा जाता है। दूसरी और तीसरी पीढ़ी के कवि विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। दूसरी पीढ़ी के लोगों ने 'प्रतीकवादी' शब्द की योजना की। श्री अलबर्ट आरिएट ने १८९१ में एक लेख में प्रतीकवादी दृष्टिकोण से प्रत्येक कला में निम्नलिखित विशेषताएँ होने पर बल दिया—(१) वह भावात्मक हो (२) वह सश्लेषणात्मक हो (३) विषयीपरक हो (४) वह अलंकृत हो (५) कलाकृति में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य हो।

प्रतीकवाद का आंदोलन पारनेसियन यानि वस्तु के बाह्य रूप के चित्रण के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। प्रतीकवादियों के अनुसार कवि का कार्य है कि वस्तु की आत्मा का अभिव्यंजन करना जो कलाकार के अंतर्दृष्टि की उपलब्धि है। हमारे यहाँ भी ध्वनिवादियों ने चित्र काव्य को निम्न कोटि का काव्य माना है। डॉ० विक्रमादित्य राय ने लिखा है कि "यह प्रयत्न विधान के भौतिकवाद आज की दूषित भाषा तथा हृदयहीन जनता के प्रति कलाकार का विद्रोह था।"

यह आन्दोलन प्रथमतः कविता में प्रारम्भ होकर उपन्यासों, नाटकों, निबंधों और समीक्षा तक इसका प्रभाव पड़ा इसका प्रसार भी द्रुतगति से अनेक देशों में हुआ। इसके मूल स्तम्भ बादलेयर थे। भारतीय संस्कृत साहित्य में प्राचीनकाल से प्रतीकों का प्रयोग होता आया है।

इंग्लैंड में जाजमूर, आस्कर वाइल्ड एडमंड गास, डब्ल्यू० बी० येट्स आदि प्रतीकवाद के प्रमुख कवि थे।

प्रतीकवादी सिद्धान्त—प्रतीकवादियों का विश्वास था कि तुच्छ दैनिक वस्तुओं को भी प्रतीकों से गौरवशाली अथवा महत्त्व मंडित बनाया जा सकता है। वस्तु के बिम्बग्राही यथावत चित्रण कला का उद्देश्य नहीं है, शाश्वत

प्रतीकों के रूप में उन्हें प्रकट करना ही कलाकार का लक्ष्य होना चाहिए। जीवन और जगत की सामान्य घटनाओं, व्यक्तियों और वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं है। प्रतीकों के द्वारा तुच्छ वस्तुओं को घटनाओं का कवि उदात्त रूप प्रदान करता है। कला का चरमोत्कर्ष प्रतीक योजना में है। जैसे श्याम बलिदान का प्रतीक बन आदर्श रूप में ग्रहण किया गया। प्रतीक बिम्बात्मक अनुभूति में विलक्षणता एवं सौन्दर्य लाते हैं। उसमें अपार व्यंजनात्मकता होती है। प्रतीक सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनियों, अनुभूतियों सुगन्धियों आदि को व्यक्त करता है।

प्रतीक और अलंकार—प्रतीक और अलंकारों का एक ही लक्ष्य है वस्तु बिम्ब को स्पष्ट, सौन्दर्ययुक्त आकर्षक मनोहारी बनाना। प्रतीक स्वरूप अन्योक्ति अलंकार से साम्य रखता है।

पाश्चात्य प्रतीकवाद गुण—प्रतीकों का प्रयोग अनेक महान साहित्यकारों ने प्रतीकवादी न होते हुए भी किया है। प्रतीकों का उपयोग सभी युगों और देशों में होता रहा है। परन्तु प्रतीकों को सर्वोच्च स्थान प्रदान करने का श्रेय पाश्चात्य प्रतीकवादियों को है। प्रतीकों की अतिशय सूक्ष्म व्याख्या इन लोगों ने की है। प्रकृतिवादियों ने काव्य में कुरूपता का स्थूलता का नग्नता का घृणा का अपनी रचनाओं में चित्रण किया और सौन्दर्य अलंकारों का प्रायः बहिष्कार किया था किन्तु प्रतीकवादियों ने अलंकारों सौंदर्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों और अनुभूतियों की पुनर्स्थापना की। उन्होंने शैली और अभिव्यंजना—सम्बन्धी नये नये प्रयोग कर कविता को रूढ़िग्रस्त भाषा से मुक्त किया तथा काव्य और संगीत में सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया। प्रतीकवाद के प्रसिद्ध व्याख्याता अर्नेस्ट रसिमरर का कथन है भाषा का प्रयोजन यथार्थ का अनुकरण करना नहीं है अपितु उसे प्रतीकात्मक रूप प्रदान करना है। प्रतीकवाद में वैयक्तिक तत्त्व पुनः आया।

दोष —प्रतीकवाद एक कला सिद्धान्त था उसे साधन के बदले साध्य मानना एक बड़ी भ्रान्ति थी। उसकी अतिशय व्यक्तिवादी और कलावादी प्रवृत्ति ने उसे समाज से दूर रखा। और उसका सामाजिक उपयोग नहीं रहा। प्रतीकवाद एक शैली तत्त्व मात्र रह गया। जन मानसों को प्रभावित करने में प्रतीकवादी असफल रहे कारण जन जीवन से उनका सम्बन्ध टूट गया था। कलात्मक प्रतीक रूप विधान, शैली शिल्प आदि बातों को सुसंस्कृत जन ही समझ सकते हैं। दुर्बोध और अस्पष्ट के कारण कविता को समझना भी कठिन हो जाता है। प्रतीकवादी काव्य का विषय सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण उसकी शैली में नवीनता के कारण अस्वाभाविकता और अस्पष्टता आ जाती थी। काव्यकला

की भाँति चित्रकला पर भी प्रतीकवाद छा गया और वहाँ भी उसने चित्रकला को दुर्बोध और अस्पष्ट बना दिया।

भारतीय काव्य में प्रतीक योजना—प्राचीनकाल से भारतीय काव्य में प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, परन्तु उसमें अस्वाभाविकता अतिवादिता को स्थान नहीं मिला। हिन्दी काव्य में उसके जन्म काल से प्रतीक योजना की समृद्ध परम्परा मिलती है। विद्यापति, सूर, तुलसी आदि सभी कवियों ने प्रतीकों का सहारा लिया है। आधुनिक छायावादी और प्रयोगवादी काव्य में भी इनका प्रयोग हुआ है।

अस्तित्ववाद (Existentialism)

द्वितीय महायुद्ध कालीन परिस्थितियों में फ्रांस में इस वाद का जन्म हुआ। ज्याँ पाल सार्त्र इसके प्रमुख प्रवक्ता थे। सार्त्र की अस्तित्ववाद की व्याख्याएँ प्रामाणिक मानकर ग्रहण की जाती हैं।

वस्तुतः इस वाद के मूल प्रवर्तक डेनिश विद्वान् सारन कीर्केगार्द (१८१३ १८५५) थे। उनके विचारों को नीत्शे मार्टिन हेडेगर, कार्ल जेस्पर्स मार्सल, सार्त्र कामू आदि साहित्यकारों ने स्वीकृत किया। अठारहवीं शताब्दी के बाद अनेक यूरोपीय विचारक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक सत्य और उसकी उपलब्धियों को ही मानते थे। इस दुराग्रही बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अस्तित्ववाद अस्तित्व में आया।

इस वाद के समर्थक विचार की अपेक्षा व्यक्ति के अस्तित्व को अधिक महत्ता प्रदान करते हैं। अस्तित्ववादियों का सामान्य विचारों, तत्त्वों, सिद्धांतों या नियमों में कोई आस्था नहीं है। सत्य का स्पर्श सद्धांतिकता और बौद्धिकता से नहीं किया जा सकता। मनुष्य का चरम लक्ष्य व्यक्ति हो होना चाहिए। व्यक्ति होने की आवश्यक शर्त है अपने आतंरिक स्वरूप को पहचानना। किसी भी सिद्धांत को सर्वाङ्गीण सार्वभौमिक नहीं माना जा सकता। इसी कारण अस्तित्ववादी परम्परागत सामाजिक नैतिक शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक सिद्धांत, जो कि व्यक्ति जीवन से सम्बन्धित हैं, अमान्य और अव्यावहारिक मानते हैं। अस्तित्ववादियों के अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व बाह्यसत्ता और परिस्थितियों अथवा उसके पूर्व कर्म फलों पर अवलम्बित नहीं है वह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है। व्यक्ति अपने को जैसे बनाना चाहता है वैसा बनता है। परिस्थिति या भाग्य उसे नहीं बनाते। व्यक्ति ही इसके लिए उत्तरदायी है कि वह परिस्थिति को अनुकूल बनाये या या प्रतिकूल। स्वयं का अपनी इच्छानुरूप ढालना प्रत्येक व्यक्ति को क्या संभव है? अस्तित्ववादियों के अनुसार हम चाहे जो नहीं बन सकते नहीं तो

कुछ और बनना स्वीकार नही करना चाहिए। डायरेक्टर बनना चाहते हो तो डोअरकीपर बनना नही चाहिए। हम चाहे जो नही बन सकते तो बदले में प्रत्येक प्रकार का दुःख मृत्यु तक स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत करना चाहिए—फलस्वरूप कोई हमे झुका नही सकेगा। अस्तित्ववादियो के अनुसार व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध त्रास या दुःख की स्थिति मे होता है। डा० गणपतिचद्र ने लिखा है— अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ एव वयक्तिक इच्छाओ एव वयक्तिक स्वतन्त्रता को कुचलकर तथा परिस्थितियों के सम्मुख नत मस्तक होकर प्राप्त किये हुए सुख की उपेक्षा उस दुःख—या मृत्यु का कारण भी श्रेयस्कर है, जो चयन की स्वतन्त्रता या निजी इच्छाओं और वयक्तिक स्वच्छन्दता की सुरक्षा करते हुए प्राप्त हो। वस्तुत आत्म स्वातन्त्र्य की रक्षा के हित प्राप्त दुःख चाहे वह कितना ही दारुण क्यो न हो, दासता एव परतन्त्रता की छाया में प्राप्त सुख से हजार गुना अच्छा होता है—यह अस्तित्ववादियों का अटल विश्वास है। इस प्रकार अस्तित्ववादी के लिए अपना अस्तित्व वयक्तिक स्वतन्त्रता एव निजी लक्ष्य या चुनाव जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही दुःख या वेदना का भोग भी रुचिकर है।

अस्तित्ववादियो के दो वर्ग हैं—एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने वाला आस्तिक और दूसरा ईश्वर धर्म, अध्यात्म आदि का सम्पूर्णतया विरोध करने वाला—नास्तिक। नास्तिक पक्ष की अधिक प्रबलता रही है। अस्तित्ववादियो के अनुसार ईश्वर व्यक्ति के मन की कल्पना है। ईश्वर की अपेक्षा ईश्वर के कारण बने हुये नियम, सिद्धान्त विश्वास धारणाए, नीति नियम, परलोक स्वर्ग-नरक पाप पुण्य, भाग्य कर्मफल इनका विरोध अस्तित्ववादी करते हैं। दास्तावस्की के अनुसार यदि ईश्वर के अस्तित्व को मिटा दें तो फिर सब कुछ सम्भव है। सार्त्र ने इसका समर्थन किया है। सार्त्र ने कहा है मनुष्य के लिये कुछ पूर्व निर्धारित नही है, वह स्वतन्त्र है वही स्वतन्त्रता है। (There is no determinism, man is free man is freedom)

अस्तित्ववादी सुख की लालसा मिथ्या है। राजनीति का तन्त्र, सामाजिक सुधार वज्ञानिक अन्वेषण नतिक आदर्श व्यक्ति की सफलता मनुष्य को पूर्णतया सुखी नहीं कर सकते। देहधारी मनुष्य धरती पर सुखी नही हो सकता। मनुष्य को सुखी बनाने के लिये सारे सामाजिक एव वयक्तिक प्रयास निरर्थक है। वस्तुत मानवतावादी समाज-सुधारका ने किसी सिद्धान्त या नियम का आविष्कार करके मानव की वयक्तिक स्वतन्त्रता कम करने का ही प्रयत्न किया है। उनका महापुरुष मानना दूसरो को तुच्छ मानना है और यह स्थिति अनुचित है। मनुष्य को पूरी स्वतन्त्रता हो और कोई भी—ईश्वर भी—उसके काम मे

हस्तक्षेप न करे । इसका नतीजा अशान्ति, संघर्ष, अव्यवस्था एवं मृत्यु हो सकता है । किन्तु मृत्यु अटल है तब उससे डरने की अपेक्षा उसका साहसपूर्ण स्वीकार अधिक श्रेयस्कर है । अस्तित्ववादियों के लिये सबसे बढ़कर वैयक्तिक स्वतन्त्रता की महत्ता अधिक है ।

अस्तित्ववाद में वेदना-बोध का तत्त्व है । जब कोई अपना हाथ काटता है तो उसको अपने अस्तित्व का बोध होगा । वेदना जितनी तीव्र होगी उतना अस्तित्व का बोध भी गम्भीर होगा । पीड़ा से अस्तित्व का बोध होता है । अर्थात् पीड़ा साधन है साध्य नहीं है । उनका चरम लक्ष्य तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता अथवा चयन की स्वतन्त्रता है । गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार स्वेच्छानुसार परम्पराओं मर्यादाओं परिस्थितियों एवं नियमों की सर्वथा उपेक्षा करता हुआ अपने जीवन का मार्ग स्वयं चुनता है । तथा इस मार्ग को अपनाने के बदले में प्राप्त सभी प्रकार के कष्टों को सहर्ष भोगता है वही सच्चा अस्तित्ववादी है । अपने या दूसरों के सुखों की चिन्ता करना व्यर्थ है ।'

अस्तित्ववादी दर्शन अस्तित्व (Existence) को सारतत्त्व या सत्त्व (Essence) से अधिक प्राधान्य देता है । Existence precedes essence अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता में उच्छृंखलता पैदा हो सकती है फलस्वरूप अराजकता फैल जाने का भी डर है । यह दृष्टिकोण विनाशवाद (Nihilism) कहा गया है ।

डा० शान्तिस्वरूप गुप्त ने सार्त्र के विचारों को संक्षेप में समझाया है— '(१) निरुद्देश्यता ही जीवन की सार्थकता है । (२) वस्तु जगत् आत्म जगत से भिन्न है । (३) सामाजिक सम्बन्धों के बीच व्यक्ति का अध्ययन नहीं हो सकता अतः उसका विश्लेषण उसे वातावरण से अलग करके ही होना चाहिए । (४) मनुष्य आत्म विवेक के लिये सर्वथा स्वतन्त्र है । मूल्य निर्धारण की स्वतन्त्रता हर व्यक्ति को है । (५) भौतिक सुख मानव का चरम लक्ष्य है । (६) यह दर्शन वैयक्तिकता की स्थापना करता है । (७) अनिश्चयता सृष्टि का मूल लक्षण है । किसी भी जीवन या समाज सम्बन्धी निश्चयता की स्थापना नहीं हो सकती । ऐसी सामाजिक व्यवस्था कभी स्थापित नहीं हो सकती, जिसमें मानव की वैयक्तिक अनुभूति को खुलकर स्वतन्त्रता मिल सके । अस्तित्ववादी सम्प्रदाय सामाजिक या राजनैतिक संगठन को आत्म विवेक का शत्रु समझता है । (८) यह केवल वर्तमान की पूजा करता है, पर वर्तमान का अर्थ है समग्र अतीत को समझकर वर्तमान की सार्थकता भविष्य में खोजना ।

अस्तित्ववादी कलाकारों ने अपनी कृतियों में इन विचारों को स्थान दिया है । अस्तित्ववादी साहित्य में व्यक्ति का चित्रण मिलता है । इनके पात्र सर्वदा

एकाकी, क्रियाहीन उदास दुखी, पीडित रहते हैं। काम् के The out sider का मेरस नियति के हाथा का खिलौना बनता है। सार्त्र की नायिकाएं भी पराजित होती हैं। Intimacy कहानी म सार्त्र कहता है— बाढ तुम्ह बहा ले जाती है। यही जीवन है। हम न समझते हैं न निणय दे सकते हैं। हम केवल बह सकते हैं। –अज्ञेय के नदी के द्वीप म यही भाव व्यक्त हुये हैं। कुछ आलोचक झल्लाकर इसे कब्रिस्तान का साहित्य कहते हैं।

अस्तित्ववादी कलाकारो न जीवन को अतिशय हीनतम पाशविक रूप म चित्रित किया है। सार्त्र का The Roads to freedom उपयास इसका उदाहरण है। दुर्भाग्यवश अस्तित्ववादियो की कृतियो म अधिक अश्लीलता नग्न यौन चित्रण और मानवी विकृतियो का चित्रण हुआ है। इसी कारण अस्तित्ववाद को क्षणवाद, अनतिकता विकृति और कुरूपता का दशन माना जाता है। कुछ इस पर पूजीवादियो की चाल' आरोप लगाते हैं। यह मतवाद समाज एव यक्ति के लिये उपादय नहीं है।

अस्तित्ववाद दशन की विशेषतायें—अनास्था अस्तित्वबोध वयक्तिक की स्थापना, पीडा की स्वीकृति भोग निराशा मत्यु आदि का चित्रण हिदी के अज्ञेय, अशोक बाजपेयी धमवीर भारती, भारतभूषण अग्रवाल नरेश मेहता आदि की कविताओं म मिलता है।

रिचड्स् का मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद

डा० आइ० ए० रिचड्स का वतमान काव्यशास्त्र क इतिहास म अत्यन्त गौरवपूण स्थान है। हावड विश्वविद्यालय न उ हें सम्मान पूवक डी० लिट की उपाधि प्रदान की है। रिचड्स मनोविज्ञान और अथ विज्ञान के क्षेत्र से साहित्य के क्षेत्र मे आये हैं। फलस्वरूप इन दोना का प्रभाव इनके सिद्धा तो पर आका जा सकता है। उनके दो प्रसिद्ध ग्र थ हैं–(१) प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (२) प्रक्टिकल क्रिटिसिज्म। उन्होंने व्यावहारिक मनोविज्ञान को अपनी आलोचना पद्धति का आधार बनाया है। कविता का प्रकरण स पथक कोई अथ नहीं है यह उन्होने सिद्ध कर दिया। आलोचना सिद्धा त के वे दो आधार मानते हैं मूल्य एव सम्प्रेषण। सम्प्रेषण का काय कविता म भाषा के द्वारा होता है और रिचड्स काव्य और विज्ञान की भाषा भिन्न भिन्न मानते हैं।

मूल्य सिद्धान्त–रिचड्स क पूव यह धारणा थी कि नतिक मूल्य का आलोचक से सम्बन्ध नही है आलोचक का सबध कलाकृति स मात्र है। रिचड्स क अनुसार कलाकृति को प्राधान्य मिलता है। कितु कला स नतिकता का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। ब्रडले न 'कविता कविता के लिये' सिद्धान्त का खडन करते हुये कला और नीति का परस्पर सम्बन्ध रिचड्स् न स्वीकार किया है। परन्तु न य नति

कता की जगह प्रकृतिवाद विषयक नैतिकता का समर्थन करते हैं। उनके विचार मे समाज और धर्म के सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं, अन्धविश्वासों के पीछे इच्छाओं की सन्तुष्टि का लक्ष्य होता है। यहाँ लक्षणीय यह है कि परिस्थितियों के अनुसार नैतिक नियमों में परिवर्तन नहीं होता। इसी कारण युग की मान्यताओं के पीछे मनुष्य का मरण पड जाता है। अतएव समाज के आदर्शों एवं मान्यताओं में परिवर्तन कर ही समाज को अराजकता एवं अव्यवस्था से बचाया जा सकता है। कला और साहित्य के द्वारा महान परिवर्तन की ओर अग्रसर हो सकते हैं। इस प्रकार साहित्य अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक मान्यताओं के संशोधन में सहायक होता है। रिचड्स के अनुसार कलाकार का काय अनुभूतियों को अंकित करना है उन्हें चिरस्थायी बनाना है किन्तु वह सबसे अधिक मूल्यवान सम्पन्नता है। कट्टर नैतिकता का विरोध करने वाले रिचड्स मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नैतिकता को कलाकार के लिए आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार कविता का मूल्य उसके मन को प्रभावित करने की क्षमता पर अवलम्बित है। Arts are the supreme form of the communicative activity रिचड्स के अनुसार सौंदर्य का निरपेक्ष मूल्य (Absolute value) होता है। उनके मतानुसार कलाएँ हमारे अंकित मूल्य विचारों का सुरक्षित भण्डार है। The arts are our store house of recorded values कलाकृति का मूल्यांकन बाह्य प्रभाव से नहीं बल्कि उसके भीतर से होना चाहिए। मूल्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है 'कोई भी वस्तु मूल्यवान है, जो किसी दूसरी अधिक महत्त्वपूर्ण एषणा को कुंठित किये बिना हमारी किसी एषणा का समाधान करे। (Any thing is valuable which will satisfy an appetency without invaluing the frustration of some more important appetencey)

मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन

किसी वस्तु को हम अच्छी या बुरा कहते हैं। रिचड्स के अनुसार हमारी मूल्यांकन सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध मानसिक उद्वेगों से है। जो वस्तु हमारे उद्वेगों को सन्तुष्ट करती है उसी को मूल्यवान कहा जाता है। इनके दो भेद—(१) प्रवृत्ति या अनुरक्ति (Appetency) (२) विरति या निवृत्ति (Aversion) प्रवृत्ति के कारण हम वस्तु के प्रति आकर्षित होते हैं—हमारी आकांक्षाएं जागृत होती हैं। निवृत्ति से हम सांसारिक वस्तुओं से दूर हटते हैं। इसमें घृणा, तिरस्कार निर्वेद वैराग्य आदि भाव उठते हैं। इन उद्वेगों में परस्पर संघर्ष हो सकता है और हमारा यह प्रयास रहता है कि हम अपने उद्वेगों का शमन करें। अर्थात् हमारी सभी प्रवृत्तियों की तुष्टि असंभव है। प्रवृत्तियों की

सतुष्टि में अन्य व्यक्ति की प्रवतियाँ भी बाधक बन सकती हैं। इससे समाज के नीति नियम बनते हैं। व्यक्ति या समाज के लिए कुछ तष्णाएँ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं और कुछ कम। डा० शांतिस्वरूप गुप्त ने लिखा है— मन की सर्वाधिक मूल्यवान स्थिति वह है जिसम मानवीय क्रियाओ की सर्वाधिक और सर्वोत्कृष्ट सगति स्थापित होती है तथा भागो का अल्पतम सघष, काट छाट, हनन और नियमन होता है जिसम आकाक्षाए कम से कम प्रतिस्पर्धी आकाक्षाओ को दलित किये बिना नियोजित हो जाती हैं। किसी भी मानव क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि वह कहाँ तक मनोवेगो में सतुलन और सुव्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है। महत्वपूर्ण एषणा समाज विरोधी न होकर समाज सापेक्ष होनी चाहिए। डा० बच्चन सिंह ने रिचडस के मूल्य सिद्धा तो के सम्ब ध मे लिखा है। काव्य की सार्थकता उसके मूल्य बोध म है, इस मूल्य में ही उच्चतर नैतिकता समाहित है उसका मूल्य बोध सुखवाद (हेडोनिज्म) से भिन्न है। रिचडस का मूल्य सिद्धा त बेंथम और मिल के उपयोगितावाद से बहुत कुछ प्रभावित है। मूल्यांकन के लिए आवश्यक है कि हम मानव जीवन को व्यापक परिप्रेक्ष्य मे देख।

सम्प्रेषण का सिद्धान्त

रिचडस आलोचना का दूसरा आधार सप्रेषण मानते हैं। शैशवावस्था से सम्प्रेषण के अभ्यस्त रहने के कारण हम उसकी महत्ता समझ नही सकते। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते माता पिता गुरुजनो आदि से सोचने और अनुभव करने का ढग सीखता है। परन्तु काव्य का सप्रेषण अधिक सूक्ष्म है। कवि अपनी अनुभूतियो को सप्रेषित करता है और रसिक अपनी योग्यता के अनुसार इस ग्रहण करता है। रिचडस का मत है कि सप्रषण अचेतन मन का व्यापार है। कलाकार अपनी कला म सप्रषण का योग्यता लाने के लिए सजग एव सतक होकर कला म चेष्टा नही करता। उनका विश्वास है कि साहित्यकार का आत्मतुष्टि और सप्रषण की क्षमता एक साथ निर्मित होती है। विविध व्यक्तियो की अनुभूतियो म समानता जहाँ हो, वहीं सप्रेषण होता है। कवि और पाठक की अभिरुचियाँ भिन्न होन पर सप्रषण म कठिनाइयाँ निर्माण होती हैं। अतीत क अनुभव क सप्रेषण म भी कठिनाइयाँ निर्माण होती हैं। अतीत के अनुभव भी सप्रषण मे सहायक होते हैं। रिचडस ने यह भी स्पष्ट किया है कि सम्प्रषणीयता कोई रहस्यात्मक व्यापार नही है। सप्रेषणीयता म कुछ विशेष परिस्थितियो म विभिन्न मतो को एक जसी अनुभूति मिलती है।

All that occurs is that under certain conditions separate

minds have closely similar experiences"

कवि की वर्णन क्षमता एवं रसिक की ग्रहण शक्ति के अतिरिक्त साधारणतया विषय का बोध एवं व्यापक परिचय, जानकारी जीवन की परिस्थितियाँ एवं अनुभूतियाँ सम्प्रेषण के कारण हो सकते हैं। निस्सन्देह सम्प्रेषण के पूर्व अनुभव का निर्माण हो जाना चाहिए, पर साथ ही हमारे अनुभव का रूप बहुत कुछ इस आधार पर बनता है कि उसे सम्प्रेषित होना है।

'An experience has to be formed, no doubt, before it is communicated but it takes the form it does largely because it may have to be communicated–Principles of critscism Page 25' और कलायें सम्प्रेषण क्रियाओं के उत्कृष्ट रूप हैं। (Arts are the supreme form of the communicative activity) कठिन स्थितियों में सम्प्रेषण की क्रिया जटिल बनती है। पद्य गद्य की अपेक्षा सम्प्रेषण का जटिल साधन है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि कभी कभी बड़े जटिल विषय भी सहज रूप में सम्प्रेषित किये जा सकते हैं।

काव्य और भाषा

काव्य में सम्प्रेषणीयता का साधन प्रमुखतया भाषा है। रिचड्स् ने अर्थ के चार भेद किये हैं–वाच्यार्थ, भाव वक्ता की वाणीगत चेष्टा, अभिप्राय विज्ञान में वाच्यार्थ का अधिक प्रयोग होता है तो काव्य में भाव का। काव्य में वाच्यार्थ गौण हो जाता है। "प्रो० रिचड्स के अनुसार भाषा मूलत रागात्मक थी, इसका वैज्ञानिक प्रयोग तो परवर्ती विकास है इसलिये भाषा का प्रचुरांश आज भी रागात्मक है शब्द के इस द्विविध प्रयोग के अन्तर को जाने बिना कोई भी भावक काव्य का सफल अध्येता नहीं हो सकता।' संक्षेप में भाषा के दो प्रकार वे मानते हैं। (१) रागात्मक (२) वैज्ञानिक।

काव्यगत दोष

काव्यगत दोष दो प्रकार के हैं–मूल्य सम्बन्धी और सम्प्रेषण सम्बन्धी। सम्प्रेषण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रचना डिफक्टी है–अर्थात दोषयुक्त कविता है और मूल्य की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रचना बैड–बुरी कविता है। उदाहरणार्थ मैथिलीशरण गुप्त जी की भारत भारती रचना सम्प्रेषण की दृष्टि से सफल रचना होने पर भी मूल्य की दृष्टि से अतिशय सामान्य है।

मूल्यांकन (रिचड्स् सिद्धान्तों का)

रिचड्स सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव लीविस हर्बर्ट रीड, बक बुक्स वारेन आदि परवर्ती आलोचकों पर पड़ा है। बीसवीं शदी की आलोचना पर रिचड्स

का प्रभाव अमिट है। आज सष्टायना ने सौन्दर्य और आनन्द का अनिवार्य सम्बन्ध माना था परन्तु रिचर्डस ने कहा कि सभी आनन्दमूलक भावनाओं का सम्बन्ध सौन्दर्य से नहीं होता, आनन्द आनन्द के अनेक स्रोत और प्रकार होते हैं। सौन्दर्य, कला और जीवन का अनिवार्य सम्बन्ध है। नये आलोचकों ने रिचर्डस के मूल्य सिद्धान्त और सम्प्रेषण सिद्धान्त दोनों को त्रुटिपूर्ण पाया। इसलिये वे उन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सके। पर उसकी अर्थ मीमांसा का स्वागत हुआ। अर्थ सम्बन्धी उन्होंने अपने विचार प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म मीनिंग आफ मीनिंग स्पकूल्टिह्व इस्टमण्ट में व्यक्त किये हैं। जानक्रो रैंसम के अनुसार नयी आलोचना—न्यू क्रिटिसिज्म लगभग रिचर्डस से प्रारम्भ होती है। रिचर्डस ने साहित्य के प्रयोजन प्रकृति निर्माण प्रक्रिया एवं मूल्य सम्बन्धी चिंतन पुराने सिद्धान्त थे, उन्हें मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रदान की। रिचर्डस के सिद्धान्त भारतीय सिद्धान्त के समीप पड़ते हैं।

इलियट का निर्वयक्तिकता या अव्यक्तिवाद

(Depersonalization)

अंग्रेजी के युग प्रवर्तक कवि प्रौढ़ समीक्षक, साहित्य और दर्शन के गहन अध्येता विचारक और चिंतक इलियट ने काव्यालोचना के सम्बन्ध में नयी आलोचनायें प्रस्तुत की हैं। १९४८ में उन्हें नोबल पारितोषिक मिला। उन्होंने सैद्धांतिक आलोचना के साथ व्यावहारिक आलोचना का भी एक उत्तम आदर्श प्रस्तुत किया। इलियट पर अरस्तू, एजरा पाउण्ड, रेमेंडी गोर्मो, ह्यूम और फ्रेंच प्रभाववादियों का प्रभाव था। उन्होंने समीक्षाशास्त्र में एक क्रांति उपस्थित कर दी।

अभिजातवाद

इलियट अपने को क्लासिकवादी कहते थे। उनके अनुसार क्लासिक का अर्थ है परिपक्वता या प्रौढ़ता (naturity)। जब संस्कृति सभ्यता साहित्य और भाषा और व्यक्ति के मस्तिष्क प्रौढ़ हो तब क्लासिक का सृजन होता है। इन बातों को उन्होंने मस्तिष्क की प्रौढ़ता शील की प्रौढ़ता और भाषा की प्रौढ़ता के रूप में विश्लेषित किया है।

प्रौढ़ मस्तिष्क से उनका अभिप्राय है इतिहास की चेतना विद्यमान हो। ऐतिहासिक चेतना को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अपने देश जाति के साथ विश्व की अन्य जातियों की संस्कृति परम्परा सामाजिक संगठन धर्म अर्थ प्रशासन व्यवहारों आदि का अध्ययन करके सुस्पष्ट धारणा अपनाना चाहिए। प्रौढ़शील से उनका तात्पर्य था—आत्म आचरण अर्थात् श्रेष्ठ चरित्र

ा निर्माण। यह धारणा बहुत अस्पष्ट रही है। प्रौढ़शील के लिए उन्होने Catholicity का प्रयोग किया है। भाषा की पूर्ण प्रौढ़ता के लिए यह आवश्यक है कि पूरे युग में महान कवि का आविर्भाव तो हो किन्तु भाषा का चरम विकास न हुआ हो। भाषा का चरम विकास तो क्लासिक कवि द्वारा होता है।" महान् कवि एक का य रूप की भावी सम्भावनायें ही निःशेष कर देता है, सम्पूर्ण भाषा की नहीं (किन्तु) अभिजात कवि किसी काव्यरूप की ही नहीं, युगीन भाषा की भी सम्भावनायें निःशेष कर देता है और यदि वह पूर्णतः अभिजात कृति है तो उस युग की भाषा में उस भाषा का चरमोत्कर्ष लक्षित होगा।' साहित्य की प्रौढ़ता जिस समाज में उसका सृजन होता है उसकी प्रौढ़ता का प्रतिबिम्ब होती है। 'कविता की अपेक्षा गद्य में प्रौढ़ता की दिशा में जो भाषा की प्रगति हुई है वह सुलभता से जान सकते हैं।

क्लासिक कवि महान होता है किन्तु महान् कवि अभिजात कवि हो ऐसी आवश्यकता नहीं है। अंग्रेजी के अनेक महान् कवियों को शेक्सपियर को भी इलियट क्लासिक नहीं मानते। उनके अनुसार अभिजात कवि विधा को नहीं, भाषा को भी चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देता है और उसकी सम्भावनायें समाप्त कर देता है। 'When the great poet is also a great classic poet, he exhausts not a form only, but the language of his time' पूर्ण क्लासिक कृति वह है जिसमें किसी मानव समाज की सम्पूर्ण शक्ति निहित हो। "सारांश यह है कि इलियट के अनुसार मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील प्रौढ़ता, भाषा प्रौढ़ता, शैली की पूर्णता और विश्वजनीनता (Universality) क्लासिक के अनिवार्य गुण हैं उसके लिये किसी भी प्रकार की संकीर्णता और सीमित धार्मिक चेतना अग्राह्य है।'

परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा (Tradition and Individual Talent)

इलियट रूढ़ि पालन के रूप में परम्परा को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार पुनरावृत्ति से नूतनता अच्छी होती है। परम्परा विरासत में नहीं मिल सकती। उसका एक बड़ा व्यापक अर्थ है प्राचीन साहित्यकारों का कोरा अनुसरण परम्परा का विकृत रूप है। इलियट के अनुसार परम्परा का अर्थ उन सभी स्वाभाविक कार्यों, रीति रिवाजों, धार्मिक कार्यों से लेकर नवागत अतिथि के अभिवादन तक की मान्य प्रथाओं तक से है जो एक स्थान पर रहने वाले एक समूह के व्यक्तियों के रक्त सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। संक्षेप में इलियट परम्परा का अर्थ संस्कृति करते हैं। वे परम्परा को मृत अथवा तुच्छ नहीं मानते। परम्परा का खण्डित हो जाना दुःखदायी है कवि परम्परा का अनु

[illegible] होता है। कवि [illegible] कोण से [illegible]
[illegible] कोण का अर्थ है कि कवि [illegible]
होने का भी [illegible] को [illegible]
स्वीकार कर [illegible]
[illegible] में कोई [illegible] नहीं है। [illegible]
हो स्थापित होता है। [illegible]
[illegible] और [illegible]
[illegible] और वैज्ञानिक [illegible] के [illegible] है —
इससे यह [illegible] भी [illegible] है कि [illegible] द्वारा
[illegible] ही परिवर्तित होता जाता है [illegible] द्वारा। [illegible]
का भाव [illegible] द्योतक है कि [illegible] और [illegible] कोई
[illegible] नहीं है। कवि प्राचीन परम्पराओं का [illegible]
पर [illegible] के लिए [illegible]
[illegible] एवं मौलिकता [illegible] भी [illegible] है।

काव्य की निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

(Impersonal Th[illegible] of Poetry)

[illegible] के अनुसार कवि या [illegible] निर्वैयक्तिक (Impersonal) और [illegible] होता है। [illegible] का प्रभाव [illegible] पर पड़ा है। इलियट की परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा [illegible] (subjective) तत्त्व निर्वासित होकर वस्तुनिष्ठ [illegible] (objective) [illegible] हो जाता है। कवि की निर्वैयक्तिकता घोषित करते हुए [illegible] कहते हैं [illegible] कवि [illegible] की अभिव्यक्ति नहीं करता है वरन् उससे पलायन करता है। कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्म-त्याग [illegible] व्यक्तित्व का निरन्तर [illegible] है —The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality. इलियट ने निर्वैयक्तिकता [illegible] माना है एक कुशल शिल्पी की प्राकृतिक निर्वैयक्तिकता और दो [illegible] कलाकार द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की गई निर्वैयक्तिकता—कवि अपने भाव अपने स्वयं के भावों के रूप में व्यक्त न कर अन सामान्य भावों के रूप में व्यक्त करता है।" अतएव इलियट की निर्वैयक्तिकता का अर्थ है—कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण। इलियट के अनुसार कलाकार और उसकी कलाकृति एक दूसरे से प्रभावित होती है। इलियट ने कविता के तीन स्वर भाषण में कहा है कि काव्य के तीन स्वर हैं—प्रथम में कवि स्वयं से बात करता है, दूसरे में अन्यों से, और तीसरे में पात्रों के माध्यम से बोलता है।" हिन्दी की नई कविता, महाकाव्य और नाटक में क्रमशः ये तीनों स्वर

मिलते हैं। इलियट के अनुसार कवि का व्यक्तित्व और उसकी कृतियाँ भिन्न चीजें हैं। वास्यगत भाव और भावनगत भाव दोनों पृथक हैं। "Poetry is not the turning loose of emotion, but an escape from emo tion not an expression of personality, but an escape from personality

वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धांत

(Theory of objective Correlative)

इलियट ने कला में भाव प्रकाशन के लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण का मार्ग श्रेष्ठ माना है। उनके अनुसार ऐसे ढंग से वस्तु समूह स्थिति और घटना-शृंखला को प्रस्तुत किया जाय कि नाटकीय भावमूल जो बाह्य वस्तुओं में वर्तमान और जिनका पर्यवसान मूर्तमानस के अनुभव में हो और जब प्रस्तुत की जायें तो तुरन्त भावोद्रेक हो जाय।" इस कसौटी पर इलियट ने हैमलेट को असफल कृति (artistic failure) बताया है।

काव्य भाषा, समीक्षा समीक्षक-सम्बन्धी विचार

काव्य भाषा के सम्बन्ध में उनका कथन है कि युग परिवर्तन के साथ अनुभूतियों में भी परिवर्तन आता है वस्तु को देखने के दृष्टिकोण में अन्तर आता है। ऐसी स्थिति में परम्परावद्ध भाषा, नए भावों, अनुभूतियों, दृष्टियों और मूल्यों की समग्रता से अभिव्यक्त करने में असफल बन जाती है। इसलिए नए युग के लिए नई भाषा अपनानी पड़ती है। दूसरी बात यह है कि कविता कभी नहीं होनी। कवि के भाषा में अस्पष्टता और अनिश्चयता नहीं होनी चाहिए।

इलियट के अनुसार निष्पक्ष समीक्षा कवि नहीं कर सकता बल्कि निष्पक्ष समीक्षक करता है। समीक्षक में विवेक, उत्तरदायित्व की भावना सूक्ष्म और प्रचुर संवेदन शक्ति स्वतन्त्र चेतना साहित्य मूल्यों का ज्ञान ममता अनाग्रहता व्यापक और अन्य विषयों का ज्ञान जीवन का ज्ञान होना जरूरी है। उसे पूरा मानव होना चाहिए।

इलियट के अनुसार समीक्षा का कार्य साहित्य का बोध कराना और आनन्द बढ़ाना है। उसका मुख्य प्रयोजन कृतियों की व्याख्या कर जन अभिरुचि का परिष्कार करना है तथा आनन्द लेने योग्य क्या नहीं है यह भी बताना। इलियट ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों प्रकार के काव्य अध्ययनों को काव्यास्वादन के लिए अनिवार्य माना है।

मूल्यांकन — इलियट बीसवीं शती के महान समीक्षक, कवि एवं विचारक

है। उसके सिद्धान्तों का प्रभाव कृतियों पर पड़ा हुआ है। उसके अतिरिक्त मन भारतीय रस सिद्धान्त आदि से मेल खाता है। हिन्दी आलोचकों में डॉ० वाजपेयी (१९७) डॉ० नगेन्द्र डॉ० ... आदि ने इन्हीं के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है।

कला सिद्धात

कला सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला पाश्चात्य आलोचक तेन ने (Taine) इसके लिए ऐतिहासिक आधार ग्रहण किया है। सेंट बव ने (Sainte Beure) भी इसे अपनाया है। सेंट बव के अनुसार लेखक की कृतियों का अध्ययन करने के पूर्व लेखक सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। इसीलिए लेखक के वंश (heredity) तथा वातावरण (environment) का अध्ययन आलोचक के लिए आवश्यक है जिसके आधार पर वह लेखक के जीवन का वास्तविक अध्ययन कर सकता। तेन ने बव के इन विचारों का समर्थन किया है। तेन के अनुसार लेखक की कलाकृतियाँ समझने के लिये जाति परिस्थिति एवं युग का अध्ययन अनिवार्य बन जाता है। इन तीन तत्त्वों से ही लेखक अथवा मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है। तेन ने इन तीनों को स्पष्ट किया है। जाति से तात्पर्य है जन्मजात प्रवृत्तियों से जिन्हें व्यक्ति अपने साथ विशेष जाति का होने के नाते लाता है। संसार की विविध जातियों में भिन्न भिन्न प्रकार के संस्कार रहते हैं। आर्य जाति नीग्रो जाति मंगोल जाति आदि सबकी जन्मजात प्रवृत्तियाँ अपनी जाति के अनुरूप होती है। मनुष्य की प्रवृत्तियों के निर्माण में बाह्य परिस्थितियों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। जाति मनुष्य के संस्कारों के निर्धारण में सहायक होती हैं किन्तु इनके अतिरिक्त मनुष्य की अन्य प्रवृत्तियाँ बाह्य प्रभाव ग्रहण करती है। भारत ईरान जर्मनी फ्रांस आदि देशों के रहने वाले के आर्य जाति के संस्कार होते हुए भी एक जैसे नहीं हैं क्योंकि हरेक देश की सामाजिक, भौतिक, भौगोलिक परिस्थिति एक समान नहीं है। युग से तात्पर्य है कि जीवन को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ। किसी भी कलाकार की कृतियों पर लेखक के व्यक्तित्व का एवं युग का अमिट प्रभाव रहता है। तुलसी, ज्ञानेश्वर, शेक्सपियर पर अपने युग का प्रभाव आँका जाता है। तेन का यह सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

उपयोगिता–(प्रगतिवाद मार्क्सवाद)

मार्क्सवादी दर्शन का मूल अर्थ ही है। मार्क्स ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने बताया कि पूँजीवाद का अन्त और साम्यवाद की स्थापना अवश्यम्भावी

है। उसने हीगल के द्वन्द्ववाद को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का रूप दिया फ्रांस के काल्पनिक समाजवाद को साम्यवाद में परिणत किया और ब्रिटेन के अर्थशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों से सम्बद्ध किया। संक्षेप में उसने एक नये समाजशास्त्र की व्याख्या की जिसको ऐतिहासिक भौतिकवाद (Dialectical materialism) भी कहते हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार अर्थ पर ही समाज की सब व्यवस्थाएं आश्रित हैं। आदिम युग से आज तक समाज ने जो सांस्कृतिक, सामाजिक या राजनीतिक प्रगति की है उसका आधार आर्थिक विकास ही है। समाजवादी देशों के अतिरिक्त शेष समाज में जो दुःख, कष्ट, वैषम्य और असंतोष फैला हुआ है उसका कारण वस्तुओं के उत्पादन और वितरण पर थोड़े से पूंजीपतियों का एकाधिकार है। समाज दो वर्गों में विभक्त है। एक पूंजीवादी वर्ग और दूसरा सर्वहारा वर्ग। समाज से यदि पूंजीवादी वर्ग को नष्ट कर दिया जाय तथा उत्पादन सीधा मजदूरों को सौंप दिया जाय तो वर्तमान वैषम्य और तज्जनित कष्ट स्वयमेव नष्ट हो जायगा। पूंजीपति का विनाश वर्ग क्रांति द्वारा ही सम्भव है। वर्ग क्रांति के लिए मजदूरों में वर्ग चेतना उत्पन्न करना अनिवार्य है। मजदूर जब तक अपने आप को भेड़ और पूंजीपति को भेड़िया नहीं मानते तब तक क्रान्ति के लिए कभी तत्पर नहीं होंगे। मार्क्सवाद वर्गहीन समाज स्थापना के लिए रक्तक्रांति में भी विश्वास करता है।

मार्क्सवाद व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष इकाई नहीं मानता। उसका विश्वास है कि समाज ही व्यक्ति को व्यक्तित्व प्रदान करता है अतः समाज के सामने व्यक्ति गौण हो जाता है। व्यक्ति के विचार और आदर्श समाज की आर्थिक स्थिति के ही परिणाम हैं। यदि समाज की भौतिक स्थिति में परिवर्तन कर दिया जाय तो व्यक्ति की रीति नीति में स्वतः परिवर्तन हो जायगा।

मार्क्सवाद समाज की मानवता को राष्ट्रीयता रक्त जाति वर्ग अथवा अन्य छोटी छोटी सीमाओं में बांटने में विश्वास नहीं करता। पूंजीवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप इसका जन्म हुआ है अतः उसे मिटाकर वर्गहीन समाज की स्थापना इसका एकमात्र लक्ष्य है। तत्पश्चात सम्पूर्ण विश्व में समानता के आधार पर कार्यक्रम प्रसारित हो। साम्यवादी हिंसात्मक क्रांति का चक्र तब तक चलाना चाहते हैं जब तक समाज सच्चे अर्थों में जनकल्याणकारी जन स्वतन्त्रता का पोषक राज्यविहीन अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य तथा विद्वेष की भावना से रहित न हो जाय।

मार्क्सवादी विचारधारा समस्त आदर्शवादी प्रवृत्तियों का विरोध कर कला के सामाजिक तत्त्वों को प्राधान्य देता है। मार्क्सवादी आलोचक

सिद्धान्तों को काडवेल ने अपनी पुस्तक 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी' में सुसबद्ध रूप में रखने का प्रयास किया है। काडवेल की 'लाईफ एण्ड लिटरेचर' फरेल की ए नोट आन लिटररी क्रिटिसिज्म रेल्फ फोक्स की दि नावेल एण्ड दि पीपल फीमन की प्रोलेतेरियन लिटरेचर इन दि यू० एस० आदि पुस्तकों ने भी मार्क्सवादी आलोचना को नया दृष्टिकोण दिया। काडवेल के अनुसार साहित्य और समाज का घनिष्ठ सबंध है और काव्य का मूलाधार आर्थिक है। (Poetry is to be regarded then not as something racial national genetic or specific in its essence but as some thing economic) काडवेल के अनुसार कला या काव्य का उपयोग प्रथमत मानव समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है। काव्यगत सत्य अपने में पूर्ण न होकर उसका उपयोग समाज के लिए है। इसके बाद कला जन-जीवन की वस्तु न रहकर कतिपय शासकों की वस्तु सामन्ती व्यवस्था के कारण बन गई। वह शासक वर्ग की दासी बन गई। आज सामन्ती व्यवस्था का स्थान पूजीवाद ने लिया है जिसे तोड़ने के लिए मार्क्सवाद कटिबद्ध है। आज कला पूजीवादियों के हाथों में रह कर उनका एक अस्त्र बन गई है। अतएव आज का काव्य पूजीवादी है। सच्चा काव्य जनमन को वाणी देता है किन्तु आधुनिक पूजीवादी समाज व्यवस्था में साहित्य की प्रवृत्तियाँ जनवादी न रहकर असामाजिक हो गई है। काडवेल ने बिम्बवाद, सौदर्यवाद अति यथार्थवाद भविष्यवाद आदि पूजीवादी संस्कृति जन्य वादों की कटु आलोचना कर कला की उपयोगितावाद पर प्रकाश डाला है। रवम फाक्स ने भी पूजावादी प्रवृत्तियों पर प्रहार किया है। फरेल ने भी सामाजिक उद्देश्य से दूर हटने वाली कला का निषेध किया है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण कला कला के लिए वाद का घोर विरोधी है वह कला के सम्मुख उपयोगितावादी उद्देश्य रखता है। मार्क्सवादी कला को वर्ग सघर्ष का श्रमिक जनता के लिये हथियार बनाना चाहते हैं अथवा कला को राजनीति का अस्त्र बनाने के लिये मार्क्सवादी साहित्य की सभाओं में मार्क्सवादी साहित्य के लिए विविध कार्य क्रम निर्धारित किए जाते हैं। फरेल के अनुसार यदि आधुनिक साहित्य से श्रमिक जनता का जीवन और उनका वर्ग सघर्ष निकाल दें तो उसमें केवल शासक वर्ग का अनुभव और विचारधारा रहेगी। लेनिन ने घोषणा की थी कि साहित्य प्रोलिटेरियट से प्रतिबद्ध है। जनशक्ति को साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। श्रमजीवी जनता साहित्य को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए उपयोग करे और अपनी स्वतंत्रता के युद्ध में उसमें आवश्यक सहायता ले। मार्क्सवाद यथार्थवाद और मानवतावाद का समन्वय करता है।

मार्क्सवादी धर्म, ईश्वर, परलोक, पूंजीपति, साम्राज्यवादी आर्थिक शोषण, सामन्तवाद का घोर विरोध किया है और समता, स्वातन्त्र्य, विश्वबन्धुत्व मानवता, दलितो एव नारियो के प्रति सहानुभूति का प्रचार किया है। प्रगतिवाद का मूल स्रोत मार्क्सवादी दर्शन ही है।

हिन्दी साहित्य पर मार्क्सवादी–दर्शन का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। हिन्दी के महान कवि पन्त, निराला, सुमन, नरेन्द्र शर्मा, रामविलास शर्मा आदि और उनके साहित्यकार और आलोचक मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। शिवदान सिंह की प्रगतिवाद' विजयशंकर मल्ल की हिन्दी काव्य मे प्रगतिवाद' आदि पुस्तको मे मार्क्सवादी आलोचना के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। यहा एक बात का स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी के समीक्षा सिद्धान्तो पर मार्क्सवाद का विशेष प्रभाव नहीं पडा। अर्थात यह अस्वीकार नही किया जाता कि मार्क्सवाद दर्शन ने आलोचको अथवा साहित्य समीक्षा के लिए एक नया दृष्टिकोण दिया है।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

अंग्रेजी

1 An Introduction to the study of Literature W H Hudson
2 Oxford Lectures on poetry A C Bradley
3 Principles of Literary Criticism L Abercrombie
4 Principles of Literary Criticism I A Richards
5 Theory of Literature Rene wellek and Austin Warren
6 The Making of Literature R A Scott James

हिन्दी

१ काव्यशास्त्र डॉ० भगीरथ मिश्र
२ साहित्यालोचन श्यामसुन्दरदास
३ काव्य समीक्षा डॉ० विक्रमादित्य राय
४ समीक्षा शास्त्र डॉ० दशरथ ओझा
५ साहित्य रूप डॉ० रामअवध तिवारी
६ साहित्य विवेचन क्षेमचन्द्र 'सुमन' योगेन्द्रकुमार मल्लिक
७ शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत भाग १ व २
८ रस विमर्श डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
९ रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित
१० हिन्दी साहित्य में विविधवाद डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल
११ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त शान्तिस्वरूप गुप्त
१२ भारतीय काव्यशास्त्र सम्पादक—डॉ० कृष्णवल
१३ पाश्चात्य काव्यशास्त्र डॉ० रामरजपाल द्विवेदी
१४ पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा
१५ साहित्य का मूल्यांकन ए० डब्लू० बी० वर्सफोल्ड अनुवादक —डॉ० रामचन्द्र तिवारी

१६ पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा सम्पादक डॉ० नगेन्द्र
१७ पाश्चात्य काव्यशास्त्र डॉ० अरविन्द पाण्डेय
१८ हिंदी नाटक-उद्भव और विकास डॉ० दशरथ ओझा
१९ आलोचक और आलोचना डॉ० बच्चनसिंह

मराठी

१ अभिनव काव्यप्रकाश रा० श्री० जोग
२ काव्यालोचन द० के० केलेवर
३ रस विमर्श डॉ० वाटवे
४ सौंदर्यबोध आणि आनंदबोध रा० श्री० जोग
५ टीका विवेक श्री० के० क्षीरसागर
६ साहित्य मीमांसा डॉ० रा० शं० वाळिंबे

प्रमुख

अंग्रेजी

1 An Introduction to the stu

2 Oxford Lectures on poetry

3 Principles of Literary Critici

4 Principles of Literary Critici

5 Theory of Literature Re

6 The Making of Literature

हिन्दी

१ काव्यशास्त्र डा० भगीरथ मिश्र

२ साहित्यालोचन श्यामसुन्दरदास

३ काव्य समीक्षा डॉ० विक्रमादित्य राय

४ समीक्षा शास्त्र डॉ० दशरथ ओझा

५ साहित्य रूप डा० रामअवध तिवारी

६ साहित्य विवेचन क्षेमचन्द्र 'सुमन' योगेन्द्रकुम

७ शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त डॉ० गोविन्द त्रि
भाग १ व २

८ रस विमर्श डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

९ रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण डॉ० आनन्द

१० हिन्दी साहित्य में विविधवाद डॉ० प्रेमनारायण

११ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त शान्तिस्वरूप गुप्त

१२ भारतीय काव्यशास्त्र सम्पादक—डॉ० कृष्णवल्ल

१३ पाश्चात्य काव्यशास्त्र डॉ० रामअवध द्विवेदी

१४ पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर डॉ० रवीन्द्रस
उसका प्रभाव

१५ साहित्य का मूल्यांकन ए० इन्द्र० सी० बसरोन्ड

—ड

१६ पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा सम्पादक डॉ० नगेन्द्र
१७ पाश्चात्य काव्यशास्त्र डॉ० अरविन्द पाण्डेय
१८ हिंदी नाटक-उद्भव और विकास डॉ० दशरथ ओझा
१९ आलोचक और आलोचना डॉ० बच्चनसिंह

मराठी

१ अभिनव काव्यप्रकाश रा० श्री० जोग
२ काव्यालोचन द० के० केलेवर
३ रस विमर्श डॉ० वाटवे
४ सौंदर्यशोध आणि आनन्दबोध रा० श्री० जोग
५ टीका विवेक श्री० के० क्षीरसागर
६ साहित्य मीमांसा डॉ० रा० शं० वाळिंब